श्रीमद्भगवद्गुणभद्रभदन्तविरचित

आत्मानुशासन ।

अनुवादक—

पं० वंशीधर शास्त्री ।

भगवद्गुणभद्रभदन्तविरचित

आत्मानुशासन।

श्रीयुत पण्डित वंशीधरजी शास्त्रीकृत
नवीन हिन्दी भाषा-टीका सहित।

प्रकाशक,
जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय.
हीराबाग, गिरगाँव.
बम्बई।

सच्चिदानंद प्रिंटिंग प्रेस सोनापुरमें
मुद्रित हुआ।

फाल्गुन, वि० १९७२.

प्रथमावृत्ति { फेब्रुवारी १९१६ ई० } मूल्य १॥

कपडेकी जिल्दका मूल्य १॥।

रा. रा. प्रभू गोविंद कानडेके सोलापूर घर नंबर ४०१०
शुक्रवारपेठ, सच्चिदानंद छापखानेमें छपाकर
जैनग्रंथ-रत्नाकर कार्यालयके मालि-
कने हीरालाल, पोष्ट गिरगांव,
बंबईमें प्रसिद्ध किया.

प्रस्तावना.

इस ग्रंथकी प्रशंसा.

जैन संप्रदायमें यों तो सभी विषयोंके ग्रंथ प्राय उपलब्ध होते हैं परंतु अध्यात्म ग्रंथोंका सबसे अधिक बाहुल्य है। यह आत्मानुशासन भी एक अपने ढंगका अपूर्व अध्यात्म-ग्रंथ है। इसकी प्रशंसामें श्रीयुत पंडित टोडरमलजीने एक हिंदी पद्य कहा है:—

सोहै जिनशासनमें आतमानुशासन श्रुत,
जाकी दुखहारी सुखकारी सांची शासना।
जाको गुणभद्र करता गुणभद्र जाको जानि,
भद्रगुणधारी भव्य करत उपासना ॥
ऐसे सार शास्त्रको प्रकाशें अर्थ जीवनको
बनै उपकार नाशै मिथ्या भ्रमवासना।
तातै देशभाषा करि अर्थको प्रकाश करूं
जातैं मंदबुद्धिहूके होवै अर्थभासना ॥ १ ॥

ग्रंथकी आवश्यकता.

व्याकरण न्याय आदि विषयोंके ग्रंथोंकी आवश्यकता सर्वसामान्यको नहीं होती किंतु अध्यात्म विचार सुनने देखनेकी सभीको आवश्यकता है और सभी उसके पात्र भी होसकते हैं। क्योंकि, (१)–इस दुःखमय संसारमें जहां देखो वहां दुःख ही दुःख दीख पडते हैं। यदि इसमें कोई सुखपूर्वक दिवस विता सकता है तो वही कि जो अध्यात्म-रसका वेत्ता हो। इसका भी कारण यह है कि, विषयोंकी हवस बढनेसे न कहीं किसीको सुख हुआ और न हो रहा है। वास्तविक व निर्विघ्न सुख विषयाकांक्षा घटनेपर ही होता है। अध्यात्म ग्रंथोंके पढनेसे विषयाकांक्षा घटती है। इसलिये वास्तविक सुख इसी

अध्यात्मरसके आस्वादनसे होसकता है; अन्यथा नहीं। (२)-जो सुख संसारमें असंभव हैं वे भी इसीके अभ्याससे प्राप्त होते हैं। इसलिये मोक्षसुखाकांक्षी जनोंकेलिये भी यही अध्यात्म विषय उपयोगी है। (३)-तीसरा कारण अध्यात्मरसकी उपयोगिताका यह भी है कि ज्ञानवान् तथा अज्ञानी, सभी इस विषयका मनन कर सकते हैं और मनन करनेसे तत्काल भी शांति लाभ करते दीखते हैं। इस प्रकार अध्यात्म रससे ओत-प्रोत भरे हुए इस ग्रंथके प्रकाशित होनेकी सबसे अधिक आवश्यकता थी।

ग्रंथकारका महत्व व परिचयः—

इस ग्रंथमें सब कुछ मिलेगा। परंतु जो जितना अधिकारी है उसको उतना ही मिलेगा। यह ग्रंथ सरलसे सरल व कठिनसे कठिन है। इस ग्रंथको पूरा समझनेकेलिये न्याय, व्याकरण व साहित्य तथा नीति इन सब विषयोंके जाननेवाले पात्रकी आवश्यकता है। और आत्मोद्धारका उपदेश तो ज्ञानी अज्ञानी, सभीके योग्य भरा हुआ है।

आजकलके संस्कृत विद्वानोंमें राजर्षि भर्तृहरिकी कविताका बहुत आदर है। परंतु गुणभद्रस्वामीकी इस कवितामें भी कुछ कमी नहीं है; बल्कि कितने ही अंशोंमें यह उससे भी चढ-बढकर है। भर्तृहरिकी कविता सामान्य उपदेशप्रद है; किंतु यह ग्रंथ सामान्य उपदेशके साथ ही साथ जैनसिद्धान्तके गूढ रहस्यको भी बताता है और आदिसे अंततक मोक्षप्राप्तिका उपाय भी क्रमानुसार दिखाता है।

ग्रंथकी सुखबोधकताः—

इस ग्रंथमें सामान्य लोकोक्तियोंका तथा अन्य-पुराणोक्तियोंका कई जगह उल्लेख है परंतु उन उक्तियोंको अपनी धर्मकथा नहीं समझना चाहिये। और यह आक्षेप भी करनेकी आवश्यकता नहीं है कि मिथ्या पुराणघटनाओंको यहां जगह क्यों दी? क्योंकि, यह ग्रंथ पुराण नहीं है किंतु धर्मोपदेशी है, इसलिये जहां साधारण जनोंको

प्रतिबुद्ध करना है वहां इष्ट उपदेशका प्रवेश करानेकेलिये समर्थनरूप उन कथाओंका संग्रह करदिया है। वे कथा सुनते हुए भी मनुष्य केवल प्रकृत विषयको ही हृदयगत करते हैं और कथाओंको आनुषंगिक समझकर छोडदेते हैं। इसलिये ऐसे उल्लेखोंका यहां दुरुपयोग होना संभव नहीं है। प्रत्युत, ऐसी उक्तियोंसे ग्रंथका उपयोग अधिक होता है।

भावार्थः—जो जिस तरह समझ सकता है उसे उसी तरहसे समझानेका इसमें प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ, एक ५२ वां श्लोक लीजिये, जो लोग नरकादि परोक्ष विषयोंपर श्रद्धा नहीं रखते उनके साथ यह हठ नहीं किया है कि तुम्हें वे बातें माननी ही पडेगी। किंतु उनकेलिये ग्रंथकार यह कहते हैं कि अच्छा वे बातें जाने दो, तो भी वर्तमान दुःख देखकर तो तुम्हें संसारसे विरक्त होना चाहिये।

'तोयेऽपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते। ५५।' इत्यादि हृदयद्रावक वाक्योंकी तो इस ग्रंथमें भरमार है।

कविका वैद्यकज्ञानः—

'कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव' यह वाक्य १०८ वें श्लोकका है। वैद्यकमें शरीर पूर्ण शुद्ध करनेकी उत्तमसे उत्तम क्रियाका जो वर्णन है उसका यह नामोल्लेख है। इसका सारांश वैद्यक जाने विना नहीं समझमें आसकता है।

कवित्वशक्तिः—

शलाटु-११५ वें श्लोकका, गोपुच्छ-२५७ वें श्लोकका, इत्यादि शब्द कहीं कहींपर ऐसे आजाते हैं कि साहित्यके अच्छे ज्ञान विना समझमें नहीं आते। एवं १२४ वें श्लोकमें सूर्यके एक ही रागसे विरोधी दो परिणामोंका उल्लेख करना यह दिखाता है कि जुदी जुदी वस्तुओंके साथ लगाकर एक ही चीजको विचित्रतासे दिखाना कविको अच्छीतरह आता था।

भगवद्गुणभद्र स्वामीने लगभग दश हजार श्लोकोंमें पूर्ण उत्तरपुराण तथा पूर्वपुराणका कुछ अंतिम भाग भी बनाया है । उसमेंसे साथ कुछ श्लोक ग्रंथकर्ताकी निराभिमानता तथा कवित्वका परिचय देनेके लिये यहां उद्धृत किये देते हैं; जो कि साहित्य व इतिहासके प्रेमी पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपनी विद्वद्रत्नमालामें प्रकाशित किये हैं ।

"गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः ।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥

यदि मेरे वचन सरस वा सुस्वादु हों, तो इसमें मेरे गुरुमहाराजका ही माहात्म्य समझना चाहिये । क्योंकि, यह वृक्षोंका ही स्वभाव है—उन्हींकी खूबी है, जो उनके फल मीठे होते हैं ।

निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः ।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥

हृदयसे वाणीकी उत्पत्ति होती है और हृदयमें मेरे गुरुमहाराज विराजमान हैं, सो वे वहांपर बैठे हुए संस्कार करेंगे ही (रचना करेंगे ही) इसलिये मुझे इस शेष भागके रचनेमें परिश्रम नहीं करना पडेगा ।

मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम् ।
धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीशिनाम् ॥ २२ ॥

रानी जैसे अपनी पुत्रीको केवल उत्पन्न करती है—पालती नहीं है, उसी प्रकारसे मेरी बुद्धि इस काव्यरूपी कृतिको केवल उत्पन्न करेगी । परन्तु उसका पालनपोषण दाईके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि ही करेगी ।

सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः ।
कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं भृशम् ॥ ३४ ॥

अर्जुनके छोडे हुए बाण जिस तरह दुस्संस्कृत अर्थात् दुःशासनके बहकाये हुए कर्णके हृदयमें अतिशय पीडा उत्पन्न करते थे, उसी प्रकारसे सत्कविके योजित किये हुए शब्द दुस्संस्कृत अर्थात्

बुरे संस्कारोंवाले पुरुषोंके कानोंके समीप पहुंचकर उनके हृदयमें चुभते हैं—उन्हें बुरे लगते हैं । ”

न्यायनिष्णातता:—

यद्यपि इस ग्रंथमें प्रधानरूपसे यह विषय नहीं है परंतु कहीं कहीं पर तो भी एक दो वचन ऐसे दीख पडते हैं कि ग्रंथकारकी न्यायनिष्णातता अपूर्व थी ऐसा मानना पडता है । देखिये इसकेलिये श्लोक नंबर १७२ व १७३ वां ।—

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम् ।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥ १७२ ॥
न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वभाव,—
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥ १७३ ॥

इन दोनो श्लोकोंका अर्थ ग्रंथमें विस्तारसे लिखा है । इन दोनो श्लोकोंमें आनुमानिक न्यायपद्धतिसे अन्य ऐकान्तिक सिद्धान्तोंका निराकरण तथा स्वमतसमर्थन करके तत्त्वलक्षण इतना अच्छा लिखा है जितना कि स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं । ठीक ऐसा ही निर्दोष व संक्षिप्त लेख समन्तभद्रस्वामीका रहता है । इसी प्रकार श्लोक नं. २१० व २११ को देखिये । उन श्लोकोंमें आत्माको शरीरसे ऐसी सरलताके साथ वास्तविक निराला सिद्ध करके दिखाया है कि देखते ही यह कहना पडता है कि कठिनसे कठिन विषय भी ग्रंथकारको अति सरलताके साथ समझाना आता था ।

व्याकरणज्ञान:—

व्याकरणज्ञान, भी ग्रंथकर्ताका वर्णनीय होना चाहिये । श्लोक २३० में ‘ बाबाध्यते ’ यह यङन्त शब्द, एवं नं. २१४ में ‘ आखु-बिडालिका ’ यह विशिष्ट समासका शब्द, इत्यादि शब्दशैलीके निर्दोष व कठिनतर शब्द देखनेसे यह बात अवश्य माननी पडती है ।

यह ग्रंथ आध्यात्मिक होनेसे ग्रंथकारने जहातक बना है बहुत ही सरल इसे लिखा है। जहांपर किसी अनुमानादि कठिन विषयकी बहुत ही आवश्यकता आपडी है वहींपर उस विषयकी विद्वत्ता दिखाई पडती है। इनकी विद्याका परिचय देनेवाले और भी कई ग्रंथ हैं। इन्हीकी कृतिमेंसे एक जिनदत्तचरित्र नामका काव्य भी है। उसमें देखिये कि साहित्य आदि विषयोंकी बातें कितनी हैं? इसे तो जो ग्रंथकारने इतना सरल बनाया है, यही उनकी विद्याकेलिये भूषण है। इसीलिये इसमें प्रसादगुणकी भरमार भी है।

ग्रंथके टीकाकारोंका परिचयः—

आत्मानुशासनका छोटासा संस्कृत व्याख्यान (टीका) श्री. प्रभाचन्द्राचार्यने किया है जिन्होंने कि 'रत्नकरण्डक' का व्याख्यान लिखा है। व्याख्यानके अंतमें उन्होंने एक पद्य लिखा है। वह यह है कि:—

मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलं,
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः।
व्याख्यातं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः,
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम्॥

भावार्थः—आत्मानुशासनका यह सरल व्याख्यान प्रभाचंद्र कृतिने किया है। सूक्तियोंके अर्थी इसका मनन करें।

इस व्याख्यानके प्रारंभमें लिखा है कि 'बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो····लक्ष्मीत्याद्याह। अर्थात्, उच्च धर्म (मुनिधर्म) की अपेक्षा जो भाई लोकसेन वह विषयोंमें मोहित हुआ था। उसके संबोधनका निमित्त पाकर श्री गुणभद्र स्वामी सर्व प्राणियोंकेलिये उपकारक ऐसे सन्मार्गको दिखानेकी अभिलाषासे यह ग्रंथ शुरू करते हैं।

इसी टीकाके सहारेसे श्रीयुत पं. टोडरमलजीने हिंदी टीका की है। जो इस संस्कृत टीकामें है उसमेंसे प्राय कुछ भी न छाडकर उसीका

खुलासा अर्थ हिंदीमें किया गया है। हाँ, अनेक भावोंको उन्होंने संस्कृत टीकाकी अपेक्षा भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है। प्रत्येक श्लोकके अर्थके अंतमें भावार्थ भी दिया है। भावार्थमें उपर्युक्त अर्थ दुहरा दिया गया है जिससे कि पढनेवालोंको सुगमता पडे।

पं. टोडरमलजीने महत्वपूर्ण 'गोमटसार' ग्रंथकी भी हिंदी टीका संस्कृत टीकाके आधारसे की है। और भी कई टीकाटिप्पणियां उन्होंने की हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामका एक हिंदी स्वतंत्र ग्रंथ भी उन्होंने लिखा है। ये सब ग्रंथ जयपुरकी प्रान्तीय भाषा (ढूंढारी) में लिखे गये हैं। टोडरमलजी जैनहिंदी-ग्रंथोंके कर्ताओंमेंसे सबसे अच्छे माने जाते हैं। जब कि ऐसे विद्वान्का लिखा हुआ अर्थ मौजूद था तो नवीन अर्थ लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी। परंतु, जैनग्रंथकार्यालयके मालिक पं. नाथूरामजी प्रेमी इस बातके प्रेमी हैं कि ग्रंथोंके समालोचन, पर्यालोचन, संस्कार, प्रतिसंस्कार आदि प्रचलित मातृभाषाओंमें होते रहैं। ऐसा करनेसे वर्तमान हिन्दीभाषाकी उन्नतिमें सहायता होती है और वर्तमान हिन्दीके द्वारा सुगमतया सामान्य जनोंको धर्मज्ञान भी प्राप्त होसकता है। पं. टोडरमलजीकी भाषाको समझनेमें आज सामान्य जनोंको दिक्कत होती है। क्योंकि, उनकी भाषा आजकलकी प्रचलित साहित्यभाषा नहीं है। अत एव इस ग्रंथकी यह नवीन हिन्दी टीका लिखने की आवश्यकता समझी गई। लिखते समय हमने उपर्युक्त संस्कृत व हिंदी दोनो व्याख्यान देखे हैं।

हम नहीं कह सकते कि पहिली भाषा टीकामें कई जगह छोटी, बडी भूलें क्यों रह गई हैं? कई स्थलोंमें तो ऐसा मालूम होता है कि संस्कृत शब्दोंका भाव टोडरमलजीकी समझमें ही नहीं आया। उदाहरणार्थ, २६८ वें श्लोकको देखिये:—

'इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यम्' अर्थात् इस प्रकार यह 'आत्मानुशासन' नाम ग्रंथ मैंने कतिपय वचनोंमें संग्रह

करके गूंथा है। यह इसका भाव है। इसकी संस्कृत टीका इस प्रकार है कि " इति एवमुक्तप्रकारेण कतिपयवाचां स्वल्पवचनानां गोचरीकृत्य विषयं कृत्वा "। इसका भी यही भाव है। इसका अर्थ टोडरमलजी यों लिखते हैं कि–' केईक वचनकी रचनाकरि उदार हैं चित्त जिनिका ऐसे महामुनि तिनके चित्तकों रमणीक इह आत्मानुशासन ग्रंथ रच्या'। परंतु यह अन्वय-संबंध किसी प्रकार भी नहीं बैठ सकता है। क्योंकि, 'कतिपयवाचां गोचरीकृत्य' इस वाक्यखण्डका वाच्यार्थ, ग्रंथका विशेषणरूप ही करना ठीक है। सिद्धांतसे विरुद्ध भी कहीं कहीं पर लिख दिया है। देखो २४१ वां श्लोकः—

इसमें जो भूल है वह हमने टिप्पणीमें श्लोकके नीचे दिखादी है। यहां भी उसका खुलासा किये देते हैं।

२४१ वें श्लोकका चौथा चरण '**सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते**' ऐसा है। इसमें आत्माके छूटनेका क्रम बताया है। जब छूटते समय आत्मा अंतमें योगोंका भी नाश करदेता है तब संसारसे विलकुल छूट जाता है। इसीलिये आत्माके छूटनेमें सबसे प्रथम उपाय सम्यक्त्व प्राप्त करना है और अंतका उपाय योगाभाव है। व्रतादि जो कारण हैं वे बीचमें उपयोगी पडते हैं। अत एव उपर्युक्त वाक्यमें 'अयोगैः' ऐसा पदच्छेद करना ही ठीक पडता है। संस्कृत टीकाकारने भी इसलिये ऐसा ही पदच्छेद किया है। '**अकलुषता=क्रोधादिरहितता। अयोगैः=कषायाद्यव्यापारैः**।' परंतु पं. टोडरमलजीका लिखना देखियेः—

'सो आत्मा मिथ्यादरसनादि करि मलिन है अर काललब्धि पाइ काहू एक मनुष्य भवविषै सम्यक्त वृत विवेक अर अकलुषता इनिके योगकरि अनुक्रमतैं मुक्त होइ है।'

भावार्थ, 'इनिके योगकारि' ऐसा अर्थ 'ऽयोगैः' इस पदका किया है। यह अर्थ किसी प्रकार भी ठीक नहीं होसकता है। क्योंकि,

मुक्तिके कारण यदि सम्यक्त्वसे लेकर कषायाभावतक ही माने जांय तो दशम गुणस्थानके अंतमें कषाय नष्ट होनेसे मुक्ति प्राप्त होनी चाहिये । दूसरें, यदि ' इनिके योगकरि ' ऐसा ही अर्थ ग्रंथकारको इष्ट था तो अंतमें बहुवचन क्यों रक्खा है ? 'योगेन' अथवा 'योगात्' ऐसा एकवचन ही रखना उचित था । इस प्रकार जब कि टोडरमलजीका यह अर्थ ठीक नहीं है तो हमारी इस टीकाके अनुसार जो ग्रंथकारका सिद्धांतसंमत सूक्ष्म भाव है वह पं. टोडरमलजीके लिखनेसे छिप गया है ।

और भी देखिये, २४९ वें श्लोकमें यह शिक्षा दी गई है कि जो आत्मकल्याण करना चाहता है उसे दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये । इससे आगेके २५० वें श्लोकमें भी यही प्रकरण है । परंतु पं० टोडरमलजीने २५० का अर्थ उलटा ही करदिया है । अर्थात्, उन्होंने दूसरोंके दोष न देखनेकी शिक्षाके बदले दोष करनेवालेको उपदेश दे डाला है। परंतु ऐसा अर्थ पूर्वापर संबंध देखनेसे बिलकुल असंबद्ध जान पडता है ।

एवं उस श्लोकके अंतमें एक पद है कि ' किं कोप्यगात्तत्पदम् '। इसका अर्थ टोडरमलजी करते हैं ' कि कोऊ चंद्रमाके स्थानक तो न गया—देषि न आया ' । परंतु ऐसा अर्थ कभी संभव नहीं है । किंतु ऐसा अर्थ संभव है कि ' दोष देखनेवाला देखने मात्रसे चंद्रमाकासा महंतपना नहीं पालेता है । भावार्थ, किसीके दोष देखते रहनेसे बढप्पन नहीं आसकता है । इसलिये किसीके दोष देखते रहनेमें समय मत गमाओ। यह जो अर्थ हम लिखते हैं, संस्कृत टीकामें भी वही है ।

संस्कृत टीकाकारकी उत्थानिका भी इसी भावको व्यक्त करती है। ' कर्मवशात्कदाचित्समुत्पन्नं दोषं तद्गुणप्रकटितमाविर्भावयतो न कश्चिद् गुणातिशयो भवतीत्याह ' । अर्थात्, दैववश यदि किसीमें दोष उत्पन्न हुआ हो तो उसके कहनेवालेको कभी गुणोत्कर्ष प्राप्त नहीं होसकता है । यही अभिप्राय आगेके श्लोकमें दिखाते हैं ।

उत्थानिकाका वास्तविक भाव तो यह है। परंतु देखिये, पं. टोडरमलजी क्या दिखाते हैं,– 'कर्मनिके वसतैं कदाचि चारित्रादि विषै कोऊ दोष उपज्या अर वाके गुण प्रगट करै तो गुणनिकी महिमा न होय'। जिसको कारकका थोडा भी ज्ञान होगा वह इस अर्थको कभी स्वीकार न करेगा। ऐसी भूलें कई होगई हैं। उनमेंसे सब तो नहीं परंतु कई भूलें हमने यथास्थान टिप्पणीमें सूचित भी की हैं। अस्तु, हमने यह विवेचन अनेक हस्तलिखित पुस्तकें देखकर प्रगट किया है और वह इसलिये कि उस अनुवादको पढनेवाले आगेसे सुधारकर पढें। भूल होना मनुष्यका स्वभाव है।

ग्रंथकारका समयः—

ग्रंथकारने अपने गुरुका नाम ग्रंथके उपान्त्य श्लोकमें स्वयं दिया है। श्री **वीरसेन** स्वामीके शिष्य श्री. **जिनसेन** स्वामी, और उनके शिष्य श्री. **गुणभद्र** स्वामी हुए। इस प्रकार इनकी गुरुशिष्य-परंपरा है। जिनसेन स्वामीके **अमोघवर्ष** महाराज परमसेवक थे जिन्होंने कि शक संवत् ७३७ से ८०० तक राज्य किया है। उन महाराजके तथा श्री. गुणभद्र स्वामीके उपास्य गुरु एक ही जिनसेन स्वामी थे। इसलिये गुणभद्र स्वामी अमोघवर्ष महाराजके ही समकालीन हुए। गुणभद्र स्वामीने अपने उत्तरपुराणको शक संवत् ८२० में समाप्त किया है। इसका विशेष खुलासा पं. **नाथूरामजी** प्रेमीने अपनी '**विद्वद्रत्नमाला**' पुस्तकमें किया है।

आनुषंगिक वक्तव्यः—

इस ग्रंथमें कल्पना, उपमा अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, तथा सूक्तियोंके उदाहरण यों तो जगह जगह मिलेंगे किंतु हम अपनी रुचिके अनुसार भी कुछ श्लोक बताते हैं जिनको कि वाचनेसे पाठकोंको विशेष आनंद होगा। वे श्लोकः—नं. ८३, ९५, १३७, १७५, १७८, १८८, २०७, २४१ वें हैं। कहीं कहींपर पाठभेद, दूसरी जगह मिलनेवाले समान वचन तथा विशेष बातें टिप्पणीमें खुलासा की हैं।

सारे ग्रंथका भाव हमने हिंदीमें लिखा है परंतु २०० वें श्लोकका अर्थ संस्कृतमें भी दिया है। इसका कारण इतना ही है कि उस श्लोकमें सर्वनामवाचक शब्द कई आगये हैं जिमसे कि अन्वय लगानेमें देरी होना संभव है। इसकेलिये यदि वहां टिप्पणी दी जाती तो कई नंबर लगाने पडते। इससे इकट्ठा संस्कृत भाषामें अन्वय व अर्थ ही कर देना ठीक समझा गया।

इस तीसरी टीकाका विशेष खुलासाः—

संस्कृत व पहिली हिंदी टीका सर्वोपयोगी न होनेसे हमने यह तीसरी हिंदी टीका तयार की है। इसमें वर्तमान हिंदी भाषा तो रक्खी ही गई है। किंतु साथमें यह भी समझना चाहिये कि हमने केवल अन्वयानुसारी अर्थको अच्छा न समझकर भावार्थकी मुख्यतासे अर्थ लिखा है। कहीं कहींपर अधिक वक्तव्यका 'भावार्थ,' लिखकर और खुलासा भी किया है। इसका भी चौथा परिस्कार हमें शीघ्र ही देखनेको मिलै ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रार्थनाः—

हमारे लिखे हुए भावार्थमें संभव है कि भूलें हुई हों। इसकेलिये हम वीतराग विद्वानोंसे क्षमा चाहते हैं। वे यदि सूचना करेंगे तो आगे सुधार करदिया जायगा। इसी प्रकार प्रेसकी तरफसे तथा हमारे दृष्टिदोषवश जो अक्षरमात्रादिकी भूलें तथा परिवर्तन आदि हुआ हो उसकेलिये भी हम क्षमा चांहते हैं।

लेखकः—

न्यायवाचस्पतिप्रभृत्यनेकपदगौरवित श्री गोपालदास-
गुरोश्चरणान्तेवासी

वंशीधर,

अध्यापक-जैन पाठशाला, सोलापूर.

विषयसूची.

विषयनाम	....	...	पृष्ठ पंक्ति.
मंगलाचरण	....	....	१
इष्टप्रयोजन	....	....	१
उपदेशकका स्वरूप	....	....	२
शिष्यका स्वरूप	...	....	६–३
धर्मकी आवश्यकता	....	....	६–२२
प्रथम आराधना—			
सम्यग्दर्शनका लक्षण	....	....	८–९
सम्यग्दर्शनके भेद	....	...	१०–१०
सम्यग्दर्शनकी महिमा	....	....	१२–५
द्वितीय आराधना—			
चारित्रका प्रथम स्वरूप	....	....	१३–८
धर्मकी आवश्यकता	....	....	१४–१०
चारित्रसे भयभीतकेलिये आश्वासन		....	१५–१४
धर्मकी महिमा		....	१६–५
धर्मकी सुगमता	....	....	१७–१६
धर्मवासनाका फल	....	....	१८–१०
पाप-कर्मोंकी निंदा	....	...	२०–७
पुण्यकी महिमा	....	....	२३–३
कर्मनिरपेक्ष पौरुषकी निंदा	....	....	२३–२१
कर्म-पौरुष-विभाग		....	२४–७
वर्तमानमें चारित्रवानोंका सद्भाव		....	२५–३
धर्मपराङ्मुखकी गति	....	....	२६–१
विषयासक्तिसे हानिकाम	....	....	२६–२४

विषयनाम	पृष्ठ पंक्ति.
पुण्यसंग्रहकी आवश्यकता	२८–१२
विषयजन्य दुःख	२९–९
तृष्णाकी निंदा	२९–२४
विषयोंमें न फसनेका उपदेश	३०–१४
गृहाश्रमकी निंदा	३१–१६
आशाका वर्णन व पश्चात्ताप	३२–१२
कर्माधीन सुखकी सोदाहरण निंदा	३४–९
धनकी निंदा	३५–१
अतीन्द्रिय धर्म व सुखकी पहिचान	३५–१३
मुक्तिकी सुलभता	३६–१७
विषयोंसे विरक्त होनेका उपदेश ...	३७–१२
विषयाशा छुडानेका उपदेश	३७–७
विषयोंकी क्षणभंगुरता	४१–१
विषयासक्तिके दोष	४१–१४
शरीरस्वरूप	४२–१२
विषयोंसे केवल दुःखका होना	४३–८
विषयोंकी प्राप्तिमें भी दुःख	४४–१
मोहजन्य दुःख	४५–१
शरीरकी जेलखानेसे तुलना	४७–१
परिवारकी असारता	४८–५
लक्ष्मीकी अस्थिरता	४९–१७
शरीरकी क्षणिकता	५०–१७
इंद्रियोंकी निंदा ...	५१–१६
सुख कैसे हो ?	५२–६
सुख किसे मिलता है ?	५२–२४

विषयनाम	पृष्ठ पंक्ति.
क्षणिक शरीरादिसे राग न होना चाहिये	५६–३
शरीरादिकोंमें शाश्वतताका भ्रम	५७–७
जन्म-मरण-दोनोंमें ही दुःख	५९–६
दृष्टान्तपूर्वक शरीरकी क्षणिकता	५९–२२
पुरुषार्थ जीवनका हेतु नहीं है	६०–२३
जीवनकी क्षणिकतामें १ उदाहरण	६०–२३
,, २ रा उदाहरण	६२–७
,, ३ रा ,,	६३–१९
कालसे सावधानी रखनेका उपदेश	६४–१७
स्त्रीप्रेमकी निन्दा	६५–२३
पुरुषप्रेमनिंदा	६६–१३
शरीरप्रेमनिंदा	६७–५
कुटुंबसंबंधनिंदा	६८–१०
बुढापेमें धर्मकी दुर्लभता	७२–१
विषयप्रेम छूटनेकी दुर्लभता	७२–२४
साधुसुखकी महिमा	७४–१
धर्मकी दुर्लभता	७४–२[illegible]
तीनो पनका स्वरूप	७५ [illegible]
विषयासक्ति छुडानेका उपदेश	७७–१[illegible]
धर्मकी महिमा	८१–२१
महात्माओंका उपकार	८३–४
गर्भादिके दुःख	८४–२५
सर्वोत्कृष्ट वैराग्यका स्वरूप	८८ २०
मुक्त होनेका स्वरूप	९ –५
तीसरी तप आराधना	१०१–१३
तपके प्रकार व सुगमता	१०३–१

विषयनाम	... पृष्ठ. पंक्ति.
विषय व तपके सुखोंकी तुलना	... १०६–१
तपके फल	.... १०८–८
तपस्वीको भी शरीर संभालना चाहिये	.... ११३–१
आदि तीर्थंकरके उदाहरणसे तपकी श्रेष्ठता	.... ११६–५
दैवकी दुर्वारताका उदाहरण	... ११७–८
तपका समर्थन	.... ११९–१
चौथी ज्ञान आराधना	.... १२०–१
ज्ञानवृद्धिका क्रम	.... १२१–१
ज्ञान शुद्ध प्राप्त करनेका क्रम	.... १२२–१८
शुभाशुभ रागके फल	.... १२४–५
मोक्षसामग्रीकी गिनती	... १२५–२३
मोक्षप्राप्तिमें स्त्रीकी बाधकता	.... ११७–६
मुक्ति-स्त्रीकी प्रशंसा	.... १२९–१२
स्त्रीकी सरोवरके तुल्य भीषणता	... १३०–१८
इंद्रियोंसे व्याधकी तुलना	.... १३२–२१
तपस्वीकी स्त्रीआसक्तिपर खेद	.... १३३–२१
स्त्रीशरीरनिंदा	.... १३४–१७
स्त्रीकी दुर्जेयता	... १३७–१७
मनोविजयकी सुगमता	.... १३९–१६
तपकी राज्यसे अधिक श्रेष्ठता	.... १४१–२३
तप बिगाडनेवालेकेलिये अन्योक्ति	.... १४३–७
गुरुकी आवश्यकता व परीक्षा	.... १४४–१६
विवेकका उपदेश	.... १४८–७
कलियुगमें धर्मकी दु:साध्यता	.... १५१–११
विषयी तपस्वियोंकी संगतिका निषेध	... १५२–२०

विषयनाम	पृष्ठ. पंक्ति.
सच्चे साधुओंका स्वरूप	१५४-४
याचनाके दोष	१५५-१४
मानरक्षाकी स्तुति	१५८-१
पांचवें छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप व अंतर	१६०-२०
साधुओंको याचना न करनेका उपदेश	१६४-४
निराशताकी स्तुति	१६६-१०
तपमें स्थिर करनेका उपदेश	१६९-१८
विषयोंसे उदास बननेका उपाय	१७३-९
तत्त्वोंका स्वरूप व लक्षण	१७४-१९
नित्यादि एकान्त पक्षोंका खण्डन	१७३-१५
ज्ञानभावनाका समर्थन व फल	१७९-१२
ज्ञानमेंसे रागद्वेष हटानेका उपदेश	१८१-२१
मोहके विषयोंका दुःखद स्वरूप	१८६-१७
जन्ममरणमें समता रखनेका हेतु	१८७-७
शास्त्रज्ञानका सच्चा फल?	१८९-२०
स्त्री-शरीरादिसे स्नेह छुडानेका उपदेश	१९१-१
शरीरकी दुष्टता	१९४-८
शरीर व स्त्रीके प्रेमकी निंदा	१९५-१
शरीर व आत्माका अंतर	१९९-१
रोगादि होनेपर भावना	२१०-६
शरीरकी कृतघ्नता	२०३-१४
आत्माको शरीरसे जुदा समझनेका उपाय	२०४-७
कषाय जीतनेकी आवश्यकता	२०५-२०
कषायकी सूक्ष्म सत्ताका स्वरूप	२०८-५
चारों कषायोंका विवेचन	२०९-३

विषयनाम	पृष्ठ. पंक्ति.
कषायके विजयसे लाभ	२१४-३
साधुओंके कषायका स्थल	२१६-१८
वीतरागताकी भावना	२२३-७
बन्धन व मुक्तिके कारण व क्रम	२२५-३
परदोषोंके देखनेकी मनाई	२३१-१
देहसे स्नेह कैसे छूटे ?	२३४-१
मोह हटानेवालोंका स्वरूप	२३५-२१
ध्यानस्थित योगियोंका स्वरूप	२३७-१६
ध्यानका वास्तविक फल	२४१-४
मुक्त जीवका स्वरूप	२४२-१४
मुक्तिका सुख	२४३-१
उपसंहार	२४५-१४
ग्रंथकारका परिचय	२४६-१९
अन्त्य मङ्गल	२४७-१

नोटः—चारों आराधनाओंका विषय आगे पीछे भी आया है।

शुद्धिपत्र.

अशुद्ध.	शुद्ध.	पृष्ठ. पंक्ति.
विषयाविषमा-	विषयाविषमा-	१३-२०
सकतीं	सकता	३१-१६
शश्वदशुभां	शश्वदशुभैः	४८-२६
तु कोपि	तुकोपि	१६९-१८
दुरं	दूरं	२०७-१२
स्त्रयग्यत्तमो-	स्त्रयुग्यत्तमो-	२३८-१२

---

१ पुत्रः सूनुरपत्यं स्यात्तुक् तोकं चात्मजः प्रजाः ॥

श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची.

पृष्ठ.

अ

अप्येतन्मृ०	२०
अन्धादयं	२६
अनिवृत्तेर्ज०	२९
अस्थिस्थूल०	४७
अर्थिनो ध०	५२
अवश्यं न०	५६
अविज्ञात०	६२
असामवा०	६५
अपिहितम०	६५
अव्युच्छिन्नैः	७४
अश्रोत्रीव	७६
अतिपरिचि०	७७
अन्तर्वान्तं	८५
अजाकृपा०	८६
अर्थिभ्यस्तृ०	८८
अभुक्त्वापि	९७
अकिंचनोह०	९९
अमी प्ररूढ०	११३
अशुभाच्छुभ.	१२२
अपलप त०	१३३
अध्यास्यापि	१३६
अधो जिघृ०	१५७
अनेकान्ता०	१७३
अपरमरणे	१८७
अधीत्य स०	१८९
अहितविहि०	१९१
अनेन सु०	१९३
अपि रोगा०	२००
अशेषमद्वैत०	२२१
अस्त्यात्मा	२२५
अधिकः क०	२२७
अपि सुतपसा.	२३४
अनादिचय०	२३५
अजातोऽन०	२४१

आ

आज्ञामार्ग०	१०
आज्ञासम्य०	१०
आकर्ण्याचा०	११
आशागर्तः	२७
आयुःश्रीवपु०	२८
आशाहुता०	३३
आयातोस्य०	३८
आस्वाद्याद्य	३९
आदावेव	४९
आराध्यो भ०	१०३
आशाखनिरती.	१५८
आशाखनिरगा.	१५९
आमृष्टं सहजं	१६५
आत्मन्या०	१९२
आदौ तनो०	१९४
आकृष्योग्र०	२३६

इ

इष्टार्थाद्यद.	७२
इत्थं तथेति	८४
इहैव सह०	१०८
इमे दोषा०	१४९
इह विनिहि०	१७१

इतस्ततश्च १९५
इति कतिप० २४५

उ व ऋ

उत्पन्नोस्य० ४२
उग्रग्रीष्म० ४३
उपायकोटि. ५६
उच्छ्वासखेद. ५९
उत्पाद्य मोह. ६३
उत्तुङ्गसंगत. १३४
उद्युक्तस्त्वं २०८
ऋषभो नाभि० २४७

ए

एतामुत्तम. १२९
एते ते मुनि० १९२
एकमेकक्षणे १७५
एकैश्वर्य. २३५
एकाकित्व. २३७

क व ख

कृत्वा धर्म. १७
कर्तृत्वहेतु. १७
कः स्वादो वि. २९
कृष्ट्वोप्त्वा ३२
किं मर्माण्य० ४९
कदा कथं ६४
कुबोधरा० ९३
क्रुद्धाः प्राण० १२७
कण्ठस्थः काल. १३७
कलौ दण्डो १५१
करोतु न २०५
खातेभ्यास. ३४

ग

गन्तुमुच्छ्वास. ९७
गलत्यायुः ५७
गुणागुणवि. १४६
गेहं गुहा १५४
गुणी गुणम. २४२

च

चित्तस्थमप्य. २०९
चक्रं विहाय २०९

ज

जना घनाश्च २
जन्मताल. ५९
जन्मसंतान. ७०
जीविताशा १६७
जातामयः २००
जिनसेना. २४६

त

तादात्म्यं तनु. ४५
तत्कृत्यं कि० ४८
तपोवल्ल्यां ११०
तव युवति. १३८
त्यक्तहेत्व० १४७
तृष्णा भोगेषु १६५
त्यजतु तपसे १६८
तदेव तद. १७४
तथा श्रुत. १९०
तपःश्रुत. २१८
तावद्दुःखा. २२०
तत्राप्यार्थं २२४

तप्तोहं देह. २३४

द

दुःखाद्वि. १
दीप्ताभया. ५०
दयादम. ९४
दुर्लभम. १०१
द्रविणपवन १०६
दोषान्कांश्चन १४५
दातारो गृह. १६४
दृशानुराग. १८४
दृष्ट्वा जनं १९१
दासत्वं विषय. २१५
दृष्टार्थस्य २१९
दृढगुप्तिक. २३०
दोषः सर्व. २३१
दूराद्धतपो. २३८

ध

धर्मागम. १५
धर्मः सुखस्य १५
धर्मादवात. १५
धर्मो वसेत् १८

न

न सुखानु. १८
नेता यस्य २३
नेत्रादीश्वर. ६१
निर्धनत्वं १६६
न स्थास्नु न १७६
न कोप्यन्यो. १९७
नयन्सर्वाशुचि. २०३
निवृत्तिं भाव. २२२

प

प्राज्ञः प्राप्त ३
पापाद्दुःखं ६
परिणाममेव १६
पैशुन्यदैन्य. २२
पुण्यं कुरुष्व २३
पिता पुत्रं २६
परायत्तात् ५२
प्रसुप्तो मरणा. ६८
पलितच्छ. ७२
प्रज्ञैव दुर्लभा ७९
पुरा गर्भादि. ११७
प्राक् प्रकाश. १२०
पापिष्ठैर्ज. १३२
प्रियामनुभ. १३९
पुरा शिरसि १४३
परमाणोः परं १५२
परां कोटिं १६८
पुराणो ग्रह. १८५
प्रच्छन्नकर्म २१२

ब

बाल्ये वेत्सि ७४
बाल्येऽस्मिन् ७५
बन्धो जन्मनि २२७

भ

भव्यः किं ६
भीतमूर्ती. २१
भर्तारः कुल. २५
भङ्क्त्वा भावि. ४०
भुक्त्वा दीपो. १२१

भागत्रयमिदं	२०४
भेयं माया.	२११
भावयामि	२२३

म

मिथ्यात्वातं.	१३
मिथ्या दृष्टि.	१२७
मुहुः प्रसार्य	१८१
मुच्यमानेन	१८३
मोहबीजाद्र.	१८५
मृत्यार्मृत्यत्र	१८९
माता जातिः	१९८
मंक्षु मोक्षं	२२१
ममदमह.	२२६
मामन्यमन्यं	२२६
महातपस्त.	२२९

य

यद्यपि क.	२
यः श्रुत्वा	११
यदेतस्व.	५३
यस्मिन्नास्ति	८१
याचितुर्गौरवं	१५३
यावदस्ति.	२०२
यदादाय	२०२
यशो मारीचीयं	२११
यमनियमनि.	२१४
यस्य पुण्यं	२२९
यद्यदाचरितं	२३५
येषां भूषण.	२३८
येषां बुद्धिर.	२३९
यत्प्राग्जन्मनि	२४०

र

रे धनेन्धन.	७१
राज्यं सौज.	१४१
रागद्वेषकृ.	१८३
रसादिराद्यो	२०४
रम्येषु वस्तु.	२१६
रतेररति.	२२०
रागद्वेषौ	२२२

ल

लक्ष्मीनि.	१
लब्धेन्धनो	४४
लोकाधिपाः	८०
लोकद्वयहितं	१४६

व

विषयविष.	१३
वार्तादिभि.	३६
विरतिरतुला.	५५
व्यापत्पर्व.	६७
विरज्य सं.	८९
विमृश्योच्च.	९२
विज्ञाननि.	९९
विभूततमसो	१२४
विहाय व्या.	१२४
वचनस.	१३०
वर्गोगृहं वि.	१३५
विकाशयन्ति	१४४
विहितवि.	१६०
विशुद्ध्यतिदु.	१७०
वेष्टनोद्वे.	१८२

वरं गाई. १९६
वसति भुवि २१०
वनचरभ. २१३
विषयविरतिः २१४

श

श्रुतमाविकलं ४
श्रद्धानं द्वि. ८
शमबोध. १२
शुद्धैर्धनै. ३५
श्वो यस्याजनि. ४१
शरणमशरणं ४८
शरीरेस्मिन् ८३
श्रियं त्यजन् ९१
शय्यातला. १६९
शास्त्राग्नौ मणि. १८१
शरीरमपि १९५
शुद्धोप्यशे. १९९
शिरस्थं भार. २०१
शुभाशुभे २२३

स

सर्वः प्रेप्सति ७
सुखितस्य १४
संकल्प्यं १६
साम्राज्यं कथ. ३०
सर्वं धर्ममयं ३१
स धर्मो यत्र ३५
संकल्प्येद. ३७
संसारे नर. ४१
सत्यं वदात्र ६९
समस्तं साम्रा. ११६
साधारणौ १५०
सस्वमाशा. १५८
सन्त्येव कौ. १७१
सुहृदः सुख. १८६
सुखी सुख. १८८
स्वार्थभ्रंशं १९६
सत्यं वाचि २१०
समधिगत. २१५
स्नेहानुबद्ध. २१९
स्वान् दोषान् २३१
सुखं दुःखं २४१
सकलविमल. २४१
स्वाधीन्याद्दुःख. २४५

ह

हंसैर्न भुक्त. ७८
हा कष्टमिष्ट. ८७
हे चन्द्रमः १४३
हितं हित्वाऽ. १४८
हानेः शोक. १८७
हा हतोसि १९९
हृदयसरसि २०६
हित्वा हेतुफले २०७

क्ष

क्षितिजल. ६०
क्षणार्धमपि ११४
क्षीरनीरव. २३४

ज्ञ

ज्ञानं यत्र १२५
ज्ञानस्वभावः १७९
ज्ञानमेव फलं १८०

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

श्रीगुणभद्राचार्यरचित

आत्मानुशासन.

(हिंदी-भाव सहित)

मंगल और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा.

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनाविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

अर्थः— इस ग्रंथके कर्ता श्रीगुणभद्रस्वामी कहते हैं कि मैं अनंत-ज्ञानादि आत्मस्वभावरूप अंतरंग अपूर्व-लक्ष्मीके धारी तथा छत्र चामर सिंहासन सभामंडप आदि बाहिरी अनुपम महिमाके धारी श्री महावीर अंतिम तीर्थंकरको अथवा कर्मशत्रुओंके नाशक वीरको या अनुपम महिमाके धारी पांचों परमेष्ठियोंको अपने अंतःकरणमें धारण करके 'आत्मानुशासन' ग्रंथको करता हूँ। इस आत्मानुशासन ग्रंथके पढने सुननेसे भव्य-जीव, प्रतिबोध पाकर संसारदुःखोंके पार होंगे, क्योंकि इस ग्रंथमें आत्माके हितका उपदेश कहाजानेवाला है।

इस ग्रंथको पढने सुननेकी आवश्यकता:—

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥

अर्थः—भव्य आत्मन्, तू दुःखसे अत्यंत डरता है और सुख चाहता है इसलिये सुन, मैं भी दुःखनाशक, सुखकारक तेरे अनुकूल ही उपदेश करता हूँ।

भावार्थः—बहुतसे मनुष्य यह समझा करते हैं कि धर्म धारण करना क्या है, मानो सुखको छोडकर कष्ट सहन करना है; क्योंकि व्रत, उपवास आदि करना और अनेक भोगोपभोग योग्य वस्तुओंका त्याग करना ही धर्म मानागया है। अतः ऐसे धर्मसे अनेक कष्ट अवश्य सहने पडेंगे। यही समझकर वे धर्मसे सदा पराङ्मुख बने

रहते हैं। ऐसे मनुष्योंको समझानेकेलिये ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि भाई, तू ऐसा विचारकर डर मत। तू भी दुःखसे तो डरता है और सुखकी सदा अभिलाषा करता है इसलिये हम वही उपदेश सुनावेंगे कि जिसके स्वीकार करनेसे दुःखका नाश और सुखका प्रादुर्भाव हो।

अब आचार्य कहते हैं कि यद्यपि हमारा उपदेश तुझे वर्तमानमें कुछ कटुक लगेगा, परंतु तो भी तू उससे डर मत।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ ३ ॥

अर्थः—परिपाक समयमें नीरोग बनानेवाली औषधि पीते समय भले ही कडुवी मालूम हो, परन्तु रोगी मनुष्यको उससे डरना न चाहिये। इसी प्रकार मेरा उपदेश यद्यपि धारण करते समय कुछ कठोर मालूम होगा, तो भी फलकालमें उसका फल मधुर होगा, यह जानकर उससे तू डरना नहीं।

भावार्थः—जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे रोग दूर करनेवाली कडुवी औषधिको पीनेसे डरते नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह औषधि पीनेपर कुछ समय पीछे सुखकर होगी। इसी प्रकार जिस धर्मके धारण करनेसे कुछ काल पीछे सुखकी प्राप्ति होसकती है, वह धर्म, सेवन करते समय भले ही दुःसह्य हो पर, उससे बुद्धिमानोंको डरना न चाहिये।

यदि कोई मनुष्य कहै कि ऐसे उपदेशक तो और भी बहुतसे हैं, तुम व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हो? तो इसका उत्तरः—

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः। ४।

अर्थः—जैसे व्यर्थ गर्जनेवाले, जलरहित और चारों तरफसे व्यर्थ ही इकट्ठे होआने वाले मेघ तो बहुतसे होते हैं, पर, जलसे भरे हुए, बरसकर जगको सुखी करनेवाले बहुत ही थोडे होते हैं; इसी प्रकार

वृथा ही अधिक और अनुचित बकने वाले एवं अभिमानवश अपनेको ऊँचा दिखानेवाले मनुष्य तो संसारमें बहुतसे मिलेंगे, किंतु जिनके अंतःकरणमें सची धर्मवासना जाग चुकी है और इसीलिये जगका निःस्वार्थ सचा उद्धार करनेके लिये जो उत्सुक होचुके हैं, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य अत्यंत दुर्लभ हैं ।

यदि ऐसे सच्चे वक्ता विरल हैं, तो उनकी पहचान क्या है? इस प्रश्नका उत्तर, (वक्ताका लक्षण):—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायःप्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥ ५ ॥

अर्थः—जो विशेष चमत्कारिणी बुद्धिको धारण करनेवाला हो, संपूर्ण शास्त्रोंका रहस्य जाननेवाला हो, लोकमर्यादाका जाननेवाला हो, आशारहित हो, नवीन नवीन विचार सुनानेवाला हो, प्रतिभायुक्त अर्थात् कांतिमान् हो, शांत—क्रोधरहित हो, प्रश्न उठनेसे पहले ही उस प्रश्नका उत्तर जाननेवाला हो, अनेक प्रश्न सुनकर भी जिसको क्षोभ उत्पन्न न होता हो, श्रोताओंसे ऊँचा हो-प्रभावयुक्त हो, श्रोताओंके चित्तको आकर्षित करनेवाला हो, आप स्वयं अनिंद्य हो तथा दूसरोंकी निंदा न करता हो, श्रोतागणका नायक हो, अनेक उत्तम गुणोंका धारण करनेवाला हो और स्पष्ट तथा मीठे शब्द बोलता हो वही वक्ता या उपदेशक हो सकता है। बुद्धिरहित मनुष्य वक्ता नहीं हो सकता। जो अनेक शास्त्रोंका मर्म नहीं जानता वह भी यथार्थ वस्तुस्वरूप समझें विना कैसे उपदेश दे सकता है? जो लौकिक व्यवहार नहीं समझता हो वह लौकिक व्यवहारके अविरुद्ध उपदेश कैसे दे सकता है और लौकिक व्यवहारके प्रतिकूल धर्मका व्यवहार कैसे चल सकता है? जो श्रोताओंको धर्म सुनाकर उनसे कुछ

लाभ होनेकी आशा रखता हो वह श्रोताओंके मनचाहा उपदेश ही देगा, यथार्थ कैसे कह सकता है? जो प्रतिभाशाली न हो वह देशकालके अनुसार तथा प्रसंगानुसार कल्पना उठाकर सच्चा निर्बाध उपदेश कैसे दे सकता है? अथवा कांति विना श्रोताओंपर प्रभाव कैसे पड सकता है? जो शांतस्वरूप नहीं हो उससे श्रोता पूछनेको उत्सुक कैसे हो सकेगा? एवं क्रोधीके मुखका उपदेश लोगोंपर कुछ असर भी नहीं कर सकता है। जो नवीन नवीन प्रश्नोंका उत्तर पहलेसे ही नहीं जानता हो, वह श्रोताओंके प्रश्न करनेपर उनको तत्काल क्या संतुष्ट कर सकता है? जो प्रश्न करनेपर अप्रसन्न हो जाता हो उससे श्रोता निर्भय होकर यथेष्ट प्रश्न कैसे करसकेगा? और इसीलिये श्रोताओंका संदेह भी किस प्रकार दूर होगा? जो श्रोताओंसे ऊँचे पदपर रहनेवाला नहीं, है, उस वक्ताका उपदेश श्रोता सर्वथा कैसे मानेगा? जो दूसरोंके चित्तका आकर्षण करनेवाला न हो उसके कहनेकी तरफ श्रोता क्यों ध्यान रक्खेंगे? जो दूसरोंकी निंदा करता है वह चाहें वक्ता हो अथवा और कोई हो, उसको जनसाधारण घृणाकी दृष्टिसे देखने लगजाते हैं; और अतएव उस वक्ताका उपदेश कोई भी रुचिपूर्वक नहीं सुनता। एवं जो स्वयं निंद्य हो उसका वचन भी लोग आदरपूर्वक धारण नहीं करते। जो अनेक गुणोंका पात्र न हो उसके कहनेमात्रका श्रोताओंपर क्या असर पड सकता है? एवं गुण रहित मनुष्यका स्वामीपना भी शोभित नहीं होसकता और न उसके स्वामी होनेसे स्वामित्वका असर ही पड सकता है। जो वक्ता स्पष्ट वचन नहीं बोलता, उसका अभिप्राय पूरा समझमें नहीं आसकता है। जो मिष्टभाषी नहीं हो उसका उपदेश सुननेके लिये श्रोताओंको रुचि उत्पन्न नहीं होसकती। एवं,—

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।

बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोस्तु गुरुः सताम् ॥ ६ ॥

अर्थः—जिसको शास्त्रका पूर्ण ज्ञान हो, जिसकी मन वचन कायसंबंधी सारी प्रवृत्तियाँ शुद्ध हों – अनिंदित हो, दूसरोंका उद्धार करना अपना कर्तव्य समझकर जो दूसरोंको शिक्षा देनेमें सदा तत्पर हो, जैन शासनके अनुसार निर्दोष प्रवृत्ति करानेके लिये जो असकृत् कटिबद्ध रहता हो, बडे बडे विद्वान् जिसका आदर करते हों । एवं आप भी विद्वानोंका विनय, सत्कार, उनसे प्रेम करनेवाला हो—उद्धत न हो, जिसको लोकरीतिका ज्ञान हो, जिसके परिणाम कोमल हों, जो स्वयं वांछारहित हो, इसी प्रकार और भी आचार्यपदके योग्य और उपदेशके साधक अनेक श्रेष्ठ गुण जिसमें पाये जाते हों वही सत्पुरुषोंका उपदेशक गुरु होसकता है । ऊपर कहे हुए इन गुणोंसे जो शून्य होगा वह सच्चा उपदेष्टा नहीं बनसकता ।

इससे पहलेके श्लोकमें जो वक्ताके गुण कहे हैं एक दो विशेषण कम अधिक वे ही गुण इस श्लोकमें भी कहेगये हैं, परंतु कथनशैली निराली है । इसीलिये इस श्लोकका रहस्य भी पहलेसे निराला है । अथवा दूसरे वार भी वे विशेषण कहनेसे वक्ताका यह अभिप्राय समझना चाहिहे कि जो विशेषण दूसरे वार कहे गये हैं वे वक्तामें अवश्य चाहिये, उनकी अधिक आवश्यकता है; और जो विशेषण एक वार ही कहे गये हैं वे कदाचित् किसी वक्तामें अव्यक्त भी हो, तो भी वह वक्तृत्व पदके योग्य होसकता है । जैसे लोकमर्यादाका जानना, मिष्टाक्षर या मृदुता, आशारहित या अस्पृहा, शुद्ध वृत्ति या प्रशमवान्, पूर्ण श्रुतज्ञान वा समस्तशास्त्रहृदयवेत्ता, ये सर्व विशेषण ऐसे हैं कि इनके विना उपदेशका काम ही नहीं चल सकता है । इसीलिये इनको दो दो वार कहकर इन गुणोंकी आवश्यकता अधिक दिखाईगई है । वाकी परमनोहारी

आदि विशेषण ऐसे हैं कि वे अव्यक्त हों या न भी हों, तो भी काम चलसकता है।

श्रोताका लक्षण.

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान्,
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ ७॥

अर्थः—जिसको आगामी मोक्षसुखकी प्राप्ति अवश्य होनेवाली हो, मेरेलिये कल्याण कारी क्या है ऐसा जो विचार कर रहा हो, संसार-संबंधी नरकादिके दुःखोंसे अत्यंत डर चुका हो, आगेकेलिये सुखी होना चाहता हो, धर्म श्रवणकी इच्छा जिसको उत्पन्न होचुकी हो, सुने हुए विषयको जो धारण करनेकी शक्ति रखता हो, सुनकर ग्रहण भी करसकता हो, ग्रहण किये हुए विषयमें विशेष विचार भी करसकता हो, प्रश्नोत्तरादिद्वारा ऊहापोह भी करने वाला हो, सच्चे तत्वको ग्रहण करना भी चाहता हो, एवं दया आदि अनेक गुणयुक्त तथा युक्ति आगमसे निर्बाध सिद्ध हुए कल्याणकारी धर्मको सुनकर जो उसपर पूरा विचार करता हो और फिर विचारपूर्वक उस धर्मका ग्रहण करने वाला हो, दुराग्रहरहित हो, वही जीव धार्मिक कथाओंको सुन सकता है और उसीको उपदेश देना सफल है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं मिलते हों, उसके सामने धर्मका व्याख्यान करना निरर्थक है। इसलिये श्रोतामें ये लक्षण अवश्य होने चाहिये।

धर्म धारनेकी जरूरतः—

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्। ८।

अर्थः—पापाचरणसे परिपाक कालमें दुःख उत्पन्न होता है और धर्माचरणसे सुख प्राप्त होता है, इस बातको सभी जानते हैं। इसलिये

सुख चाहनेवालेको पापाचरण छोडकर सदा धर्मका ही आचरण करना चाहिये।

अब कहते हैं कि, यथार्थ सुखके वांछक मनुष्यको चाहिये कि वह सच्चे उपदेशकका आश्रय ले, क्योकि सब कोई सच्चे मार्गको नहीं बतासकते:—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्,
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत–
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥ ९ ॥

अर्थः—सुखको सभी जीव चाहते हैं और जितना जल्दी मिलसके उतना ही जल्दी चाहते हैं; परंतु उस सुखकी प्राप्ति तब हो सकती है जब सुखको नष्ट करनेवाला जो कोई अनिष्ट दैव है, उसका नाश होजाय। उस अनिष्ट कर्मका नाश एकमात्र सच्चे चारित्रसे हो सकता है और वह चारित्र ज्ञान विना नहीं हो सकता, क्योंकि बुरे भले चाल–चलनकी समझ, विना ज्ञान कैसे हो? सच्चा ज्ञान भी यदि उत्पन्न करना हो तो वह आगमका आश्रय लिये बिना नहीं हो सकता और आगम तबतक आ कहांसे सकता है जबतक कि मूलार्थ प्रकाशक द्वादशांगरूप श्रुतिका प्रादुर्भाव न हो। श्रुतिका प्रादुर्भाव तब होगा जब कि कोई यथार्थ उपदेष्टा आप्त उसको कहै। जीव कोई भी क्यों न हो, परंतु तबतक आप्त नहीं होसकता, जबतक कि वह राग द्वेषादि सर्व दोषोंको नष्ट न करदे, क्योंकि जबतक रागद्वेषादिक दोष प्रगट बने हुए हैं, तबतक कैवल्यज्ञानकी प्राप्ति होना तथा सत्य संभाषण होना दुःसाध्य ही नहीं किंतु असंभव है। रागी द्वेषी मनुष्य रागद्वेषके वशीभूत होनेसे सर्वथा सत्य भाषण कभी नहीं कर सकते, और न वे निर्विकार निरपेक्ष कैवल्य विज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार क्षुदादि दोषोंके होनेपर भी आप्तपना

नहीं बन सकता है, क्योंकि क्षुदादिके वश हुआ मनुष्य भी अपने प्रयोजनार्थ चाहें जो कुछ सीधा उलटा संभाषण करता हुआ दीख पडता है । इसलिये ये सभी दोष आप्त होनेके घातक हैं । इस प्रकार अनुक्रमसे देखनेपर प्रतीत होगा कि सर्वज्ञ आप्त भगवान् ही सब सुखोंकी उत्पत्ति होनेमें निदान है । जब कि आप्तके विना सुखप्राप्ति होना कठिन है तो सभीको यह चाहिये कि, आप्तकी खोज और परीक्षा करें और परीक्षा हो जानेपर उस सच्चे आप्तका वचन स्वीकार करें ।

विद्वानोंने जिसको सच्चा आप्त माना है उसने चार आराधनाओंका वर्णन किया है । उन चारोंके आराधन करनेसे जीवका कल्याण होसकता है । उनमेंसे प्रथम आराधनाको पहले दिखाते हैंः—

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,
संवेगादिविवार्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम् ।
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्यमाराधना ॥ १० ॥

अर्थः—पहली आराधना सम्यग्दर्शन है । सच्चे आत्मश्रद्धानको तथा तत्वश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । आगे कहे हुए सम्यक्त्वके फलको ध्यानमें रखकर इस सम्यक्त्वको अपना हितकारी मानते हुए इसका आश्रय करना चाहिये, धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

सम्यक्त्व दो प्रकारका हैः— निसर्गज और अधिगमज । बाहिरी उपदेशादिक कारणोंके साक्षात् न मिलते हुए जो पहले संस्कारकी मुख्यतासे उत्पन्न हो, वह निसर्गज सम्यक्त्व है; और गुरुका उपदेश केवलीका दर्शन इत्यादि बाहिरी कारण मिलनेसे जो उत्पन्न हो वह अधिगमज है । यही सम्यग्दर्शन अपने घातक कर्मके उपशम क्षय क्षयोपशमको निमित्त पाकर उत्पन्न होता है इसलिये इसके औ-

पशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक ऐसे तीन भेद भी मानेगये हैं। आगे इसीके दश भेद भी कहनेवाले हैं। सम्यग्दर्शनके लोकमूढता आदि जो पच्चीस दोष माने गये हैं उनसे वह रहित होना चाहिये।

१– मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥

(१) लोकमूढताः–शास्त्रकी मर्यादाका तथा अपने हानि लाभका विचार न करके अज्ञान मनुष्योंकी देखादेखी कार्य करना। (२) समयमूढताः– जगमें अनेक प्रकारके शास्त्र तथा धर्म प्रचलित हैं, उनकी परीक्षा न करके देखादेखी किसीएक शास्त्र या धर्मको अच्छा मानने लगना। (३) देवमूढताः– अनेक प्रकारके देवी देव झूठे साचे कल्पित करके लोगोंने जो मान रक्खे हैं, उनको स्थापित कर रक्खा है, उनकी परीक्षा न कर, उनका बुरा भला स्वरूप न विचार कर यों ही उनमेंसे किसीको मानने लगना। (४–९) छह अधर्मपोषक स्थान जिनको कि अनायतन कहते हैं। (१०) शंका, (११) कांक्षा, (१२) विचिकित्सा, १३ मिथ्यागुणवालोंकी प्रशंसा, १४ धर्मके दोष प्रगट करना=अनुपगूहन, (१५) धर्मसे चलायमानको धर्ममें स्थित करने की इच्छा न करना=अस्थितिकरण, (१६) साधर्मी जीवोंके साथ परस्पर प्रेमपूर्वक न रहना=अवात्सल्य, (१७) जैन मार्गका ज्ञान चारित्रादि गुणोंके द्वारा महत्व प्रगट न करना=अप्रभावना, (१८) अपनी जाति लोकप्रतिष्ठित होनेके कारण उसका गर्व करना=जातिमद, (१९) कुलमद, (२०) अपनेको कुछ ज्ञान प्राप्त हो तो उसका मद=ज्ञानमद, (२१) लोकमें अपना जो कुछ सत्कार होता हो उसका मद=पूजामद, (२२) बलमद, (२३) ऋद्धिमद, (२४) तपोमद, (२५) शरीरकी सुंदरता का मद=शरीरमद। ऐसे ये सम्यक्त्वसंबंधी २५ दोष हैं जिनसे कि सम्यक्त्व मलिन भी होता है और कभी कभी इन दोषोंका अधिक जोर होनेपर नष्ट भी हो जाता है।

सदा संवेग आदि चारित्रके अंग बढानेका यह सम्यग्दर्शन कारण मानागया है; तथा संवेग रखनेसे सम्यग्दर्शन बढता भी है। (और नवीन भी कभी कभी उत्पन्न होता है)। इस सम्यग्दर्शनके होनेसे क्रमानुसार संसारदुःखोंका उच्छेद होता है। मति, श्रुति, अवधि ये तीनो ही मिथ्याज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेसे निर्मल समीचीन ज्ञान होजाते हैं। पुण्यपापको जुदा माननेसे नौ, और जुदा न माननेसे सात जो जीवादि तत्व, उनका सच्चा श्रद्धान करानेवाला है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन अविनाशी मोक्षरूप महलपर चढनेवाले बुद्धिमान् कल्याणेच्छुक जनों के लिये पहली सीढी है।

सम्यक्त्वके दश भेदः—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥ ११ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनके आज्ञासम्यग्दर्शन, मार्गसम्यग्दर्शन, उपदेशसम्यग्दर्शन, सूत्रसम्यग्दर्शन, बीजसम्यग्दर्शन, संक्षेपसम्यग्दर्शन, विस्तारसम्यग्दर्शन, अर्थसम्यग्दर्शन, अवगाढसम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन ये दश भेद हैं। ये भेद कुछ तो उत्पत्तिके निमित्तभेदसे हुए हैं और कुछ स्वरूपमें हीनाधिकता होनेके कारण हुए हैं।

सम्यक्त्वके १० भेदोंका अर्थ :—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥

अर्थः—शास्त्राध्ययनके विना ही, केवल वीतराग देवकी आज्ञा मानकर तत्वोंपर जो कुछ रुचि उत्पन्न हो वह आज्ञासम्यक्त्व है। सम्यक्त्वघातक मोहकर्मकी शांति होजानेसे, शास्त्राभ्यासके विना ही

जो बाहिर भतिरके परिग्रहसे सर्वथा रहित, कल्याणकारी ऐसे मोक्ष-मार्गको अच्छा समझने लगना वह मार्गसम्यक्त्व है । आगमरूप समुद्रका अगाध ज्ञान जिनके हृदयमें प्रसार पाचुका है ऐसे आचार्योंने उस सम्यक्त्वको उपदेशसम्यक्त्व कहा है कि जो तीर्थकरादि श्रेष्ठ पुरुषोंका चरित्र सुननेसे उत्पन्न हुआ हो ।

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः,
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान् ,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ १३ ॥

अर्थः—मुनियोंकी चारित्रविधि दिखानेवाले आचारसूत्रको यहां पर सूत्र कहा है । इस सूत्रको सुनकर जो श्रद्धान उत्पन्न हो वह सूत्रसम्यग्दर्शन है । गणितज्ञानकेलिये जो नियम (बीज) किये गये हैं उनमेंसे कुछ नियमोंके जाननेसे तथा मोहनीय कर्मकी सातिशय उपशांति प्राप्त होनेसे करणानुयोगके गहन पदार्थोंको भी जिसने समझकर जो सम्यक्त्व प्राप्त किया हो उसके उस सम्यक्त्वको बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं । पदार्थोंका संक्षिप्त ज्ञान होनेपर ही जो तत्वोंमें यथार्थ रुचि उत्पन्न करनेवाला हो वह संक्षेपसम्यग्दर्शन समझना चाहिये ।

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ १४ ॥

अर्थः—सर्व द्वादशांगको सुनकर किसीनें जो रुचि उत्पन्न की हो उसे विस्तारसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । किसी पदार्थके देखने अनुभवनेसे तथा किसी दृष्टान्त आदि के अनुभवनेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ हो वह अर्थसम्यक्त्व है । बारह अंग और अंगबाह्य ऐसे सर्व श्रुतज्ञानका पूर्ण अनुभव होनेपर श्रुतकेवल अवस्था जिसको प्राप्त हुई

हो उसको जो पदार्थोंमें श्रद्धान उत्पन्न होता है वह बहुत गाढ होता है इसलिये उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। केवलज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थोंमें जो अत्यंत दृढ श्रद्धा उत्पन्न हो उसे परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वको सबसे प्रथम कहनेका हेतुः—

शमबोधवृत्ततपसां, पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५ ॥

अर्थः—आत्मामें कषायोंकी मंदता होनेसे जो उद्वेग मंद होजाता है वह उपशम है। शास्त्राभ्यास करनेसे उत्पन्न हुआ जो पदार्थ-ज्ञान वह बोध है। पापमय निंद्य क्रियाका छोडना चारित्र है। उपवास तथा कायक्लेशादिकोंको तप समझना चाहिये। ये चारो ही बातें किसी जीवमें जबतक सम्यक्त्व-रहित केवल हों तबतक इन चारोंका महत्त्व एक साधारण पत्थरके बराबर है कि, जो एक स्थानपर उद्वेगरहित पडारहता है इस कारण शमयुक्त कहा जासकता है; दूसरे लोगोंको लगनेपर बोधित करनेबाला होनेसे बोधयुक्त है; वृत्त अर्थात् वर्तुलाकारको धारण करनेवाला है; शीतोष्ण आदि दुःख सहते हुए भी उसमें कष्ट नहीं होता इसलिये तप भी करनेबाला कहा जा सकता है। इन्हीं शमादिक चारोंका मूल्य उस मनुष्यमें कि जो सम्यक्त्व-सहित हो, एक उत्कृष्ट रत्नके समान हो जाता है।

अर्थात् शम, बोध, वृत्त, तप ये चारो गुण रत्न, और पाषाण दोनोंमें बराबर ही हैं, तो भी रत्नमें एक अपूर्व कांतिके ही अधिक होनेसे रत्नका आदर अधिक होता है, जहां कि, पाषाणको कोई पूछता भी नहीं है। इसी प्रकार शम, बोध, वृत्त, तप ये चारो रहनेपर भी मनुष्य आदरणीय नहीं होपाता, और एक सम्यग्दर्शन गुणके होजानेपर मनुष्य लोकपूजित बन जाता है। यही कारण है कि चारो आराधनाओंमें सम्यक्त्व को सबसे प्रथम गिनाया है।

अथवा, पाषाणको धारण करनेपर भी मनुष्यका जिस प्रकार कुछ आदर नहीं होता, उसको देखकर भी लोग उसे श्रीमंत या सुकृती नहीं कहते किंतु रत्न धारण करनेवालेको देखकर लोग उसे बहुत बडा श्रीमंत, पुण्यशाली समझते हैं। उसी प्रकार केवल शम, बोध, वृत्त, तप धारण करनेपर भी मनुष्य सत्कारपात्र नहीं होपाता, किंतु, सम्यक्त्वके धारण करलेनेसे वही मनुष्य पूज्य होजाता है। इसीलिये सम्यक्त्व सब गुणोंसे अधिक आदरणीय है।

दुराराध्य मानकर धर्मसे डरनेवालेकेलिये आश्वासनः—

मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य ।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥ १६ ॥

अर्थः—रोगी होकर भी हिताहितकी अनुकूल प्रवृत्तिको न समझनेबाला, अत एव रोगनाशके अचूक परंतु दुःसह उपायको करनेकेलिये असमर्थ या अनुत्साही ऐसा जो बालक उसकेलिये वैद्य जिस प्रकार सहजसी कोई रोगनाशक औषधि बताता है इसी प्रकार मिथ्यात्वरूप संसार–दुःखवर्धक रोगसे पीडित होनेपर भी जबतक तू सच्चे हितको साधने और अहितको दूर करनेके लिये पूर्ण साहसी नहीं हुआ है तबतक हम तेरेलिये बहुत ही सहज उपाय बताते हैं, तू डर मत।

वह सहज उपाय अणुव्रतरूप चारित्र आराधनाः—

विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १७ ॥

अर्थः—विष आदि विपरीतवस्तुके खानेसे जब संताप–ज्वर वढजाता है और उसके योगसे तृषा बढजाती है तथा शक्ति घटजाती है तब जिस प्रकार सहज पचने योग्य पीनेकी चीजें ही प्रथम देकर शक्ति बढाई जाती है और तृषा कम कीजाती है; उसके वाद फिर कठिन गुरुतर औषधियोंका सेवन कराया जाता है। उसी प्रकार विषय

सेवनसे जो तुझे मोह उत्पन्न होकर पदार्थोंमें इष्टानिष्ट माननेकी टेव, जो कि, दुःसह दाहजनक है, उत्पन्न होगई है और वीतरागादिस्वरूप आत्मसंबंधी स्वाभाविक शक्ति घट गई है इसलिये उसके शमनार्थ, धारणकरने योग्य ऐसी अणुव्रतरूप प्रथम देने योग्य औषधि हम बताते हैं, वही तेरेलिये इस समय अनुकूल होगी। अर्थात्, जबतक वीतरागादि स्वभावरूप निजशक्ति बढ नहीं चुकी हो तबतक कठिन महाव्रतादिरूप औषधि देना उचित नहीं है किंतु अणु चारित्ररूप सह्य औषधि देना ही समयोचित है। तदनंतर आत्मीय शक्ति बढजानेपर महाचारित्ररूप औषधिका सेवन कराना भी अनुकूल होसकेगा।

सदा ही धर्मकी आवश्यकताः—

सुखितस्य दुःखितस्य च, संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदपघाताय ॥ १८ ॥

अर्थः—संसारमें रहते हुए तुझै सुखकी अवस्थामें भी धर्म का आश्रय लेना चाहिये और दुःखी रहनेपर भी धर्मका आश्रय लेना चाहिये। यदि पहलेसे ही तू सुखी होगा तो उस तेरे सुखमें बढबारी होगी और यदि तू दुःखित होगा तो उस दुःखका इस धर्मके धारनेसे नाश होजायगा। अर्थात्, चाहें कोई जीव कभी सुखी हो या दुःखी, परंतु दोनो ही अवस्थाओंमें धर्म धारण करनेकी जीवमात्रको आवश्यकता है। जैसे ऋणी मनुष्य यदि धन कमावेगा तो वह उस धनसे ऋणमुक्त होजायगा किंतु जिसके पास धन बहुतसा है तथा ऋण कुछ भी जिसको देना नहीं है वह भी यदि धन कमावेगा तो उसकी संपतिमें बढवारी होगी। इसलिये धन कमाना किसीकेलिये भी अनिष्ट नहीं होसकता। इसी प्रकार दुःखकी अवस्थामें जीव यदि धर्म सेवन करै तो उसके उस दुःखका क्रमक्रमसे नाश होसकता है। यदि पहलेका सुखी जीव धर्मका आराधन करै तो उसके उस पूर्वसंचित पुण्य कर्मके रसमें वृद्धि होनेसे वर्तमान सुखमें वृद्धि हो सकती है; तथा

नवीन पुण्य कर्मका बंध होनेसे आगे भी सुखकी प्राप्ति होना संभव होता है।

इंद्रियसुखकेलिये भी धर्मकी आवश्यकता:—

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
संरक्ष्य ताँस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥ १९ ॥

अर्थ:—संपूर्ण इंद्रियोंके इष्ट-विषय संबंधी जो सुख हैं उन सबोंको सम्यक्त्वादि-अनेक-वृक्षयुक्त धर्मरूप बागके फल समझना चाहिये। इसलिये तू सम्यक्त्व–संयमादिरूप वृक्षोंकी जिस तिस प्रकारसे रक्षा करके विषय–फलोंको भोग। अर्थात्, बुद्धिमान् मनुष्य जिस प्रकार श्रेष्ट फल देनेवाले वृक्षोंको जडसे उखाडकर उनके फल नहीं खाते किंतु उन वृक्षोंको कायम रखकर उनसे फल लेते हैं, इसी प्रकार विषयरूप फलोंकी उत्पत्ति भी धर्मरूप वृक्षोंसे ही हो सकती है; इसलिये उस अनेक प्रकारके धर्मकी रक्षा करके विषयोंको भोगना चाहिये, न कि धर्मकी जड काटकर।

धर्मसे विषयसुखका भंग नहीं होगा। क्यों?—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात् सुखभङ्गभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

अर्थ:—धर्मसे सुखकी उत्पत्ति होती है। इसलिये जब कि, धर्म सुखका हेतु सिद्ध हो चुका, तो हेतु कभी भी अपने कार्यका घातक–कारण नहीं होसकता किंतु सदा अपने कार्यका कहीं प्रत्यक्ष कहीं परोक्षरूपसे साधक ही होगा। इसलिये तू इस बातको विचार कर धर्मसे विमुख मत हो कि, धर्म धारण करनेसे मेरे विषय–सुखोंमे बाधा आपडेगी।

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥ २१ ॥

अर्थ:—सुख संपत्ति आदि विभवकी प्राप्ति धर्मद्वारा हुई है इस लिये धर्मरूप प्रधान कारणकी रक्षा करते हुए ही तुझे भोग भोगने

चाहिये, न कि धर्मका ध्वंस करके। जैसे किसानको जो धान्य मिलता है वह बीज बोनेसे मिलता है इसलिये वह बीजको आगेके लिये भी संभालकर रखता है, [जिससे कि एकवार उत्पन्न हुआ धान्य भोग-लेनेपर भी आगे धान्यकी उपज होती रहै]।

कल्पवृक्ष तथा चिंतामणि रत्नसे भी धर्मकी अधिक उत्कृष्टता:-

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

अर्थः—कल्पवृक्षसे फलकी प्राप्ति, प्रार्थना [संकल्प] करनेसे होती है, और वह भी, जितनी शब्दद्वारा कही जासकती है उतनी ही होती है। चिंतामणि रत्नके द्वारा भी जो फल प्राप्त होता है वह मानसिक चिंतवन करनेपर ही होता है, और वह भी, मनके विचार करनेसे अधिक नहीं। परंतु धर्मके द्वारा विना याचना किये, विना चिंतवन किये ही फल प्राप्त होता है, और वह भी ऐसा कि जिसका प्रमाण वचनके तथा चिंतवनके अगोचर हो। अर्थात् वह इतना बडा फल मिलता है कि जिसे हम वचनसे कह नहीं सकते हैं और मनसे जिसका अंदाज करना भी कठिन है।

ऐसे धर्मका उत्पत्ति किससे होसकती है?

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।
तस्मात पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ २३ ॥

अर्थः—सुपरीक्षक लोग पुण्य पापका कारण परिणामको ही मानते हैं। जब कि पुण्यका या पापका संचय करना अथवा न करना यह हमारे परिणामके आधीन है तो हमारे ही आश्रित है। और जब कि ऐसा है तो सुखसाधनभूत पुण्यका संचय, पुण्यकी वृद्धि तथा पापबंधका निरोध, पूर्वसंचित पापका ऱ्हास अवश्य करना चाहिये; क्योंकि अपने आधीन होनेसे ऐसा करलेना बहुत ही सुगम है।

धर्मसे पराङ्मुख होकर विषयासक्त होनेवालेकी निंदा:—

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवान्ति ये मोहात् ।
आच्छिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णान्ति ते पापाः ॥ २४ ॥

अर्थः—अज्ञान तथा तीव्र रागद्वेषके वश होकर, जो धर्मकी रक्षा न करते हुए और नवीन धर्मका विघात करते हुए पूर्वसंचित धर्मके फलोंको भोगते हैं वे पापी मानो उत्तम फलके देनेवाले वृक्षोंको जडसे काटकर उन वृक्षोंके फलको भोगनेवाले हैं। अर्थात्, जैसे उत्तम फल देनेवाले वृक्षोंकी रक्षा करते हुए उनसे जो फल लेकर भोगते रहते हैं वे तो बुद्धिमान् सज्जन धर्मात्मा हैं, किंतु जो तीव्र उन्मादके वश अथवा तीव्र तृष्णाके वश होकर जडसे काटकर उन वृक्षोंके फल लेना चाहते हैं वे मूर्ख अविवेकी अधम पापी हैं । इसी प्रकार जो विषयों का सेवन इसतरह करता है कि जिसकी प्रवृतिसे धर्मका उच्छेद होकर पाप संचय हो वह पापी मूर्ख समझना चाहिये; क्योंकि उसका उसने समूल नाश करके उससे एकवार प्राप्त होनेवाले फलोंको भोगकर आगामी सदाके लिये वह धर्मवृक्ष नष्ट करादिया ।

विषयसेवन और धर्माराधनका एक साथ होसकना :—

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु ।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥ २५ ॥

अर्थः—जो धर्म मानसिक चिंतवनद्वारा शारीरिक चर्याद्वारा, वचन द्वारा स्वयं करनेसे, दूसरोंको करानेसे अथवा अनुमोदना करनेसे एवं हर तरहसे संचित होसकता है उस धर्मका क्यों न संग्रह करना चाहिये? भावार्थ-कृत, कारित, अनुमतिरूप ऐसे प्रत्येक मन वचन तथा कायकी प्रवृत्ति तीन तीन प्रकारकी होसकती है; इसलिये जीवोंकी, मन वचन काय की प्रवृति मूल नौ प्रकारकी कही जासकती है। जीवकी कोई भी प्रवृत्ति क्यों न हो किंतु सबका समावेश इन नौ भेदोंके भीतर ही होजाता है । इन प्रवृत्तियोंमेंसे अथवा उत्तर भेदोंमेंसे जीवकी कोई न

कोई प्रवृत्ति निरंतर होती ही रहती है। इसलिये यदि जीव सावधान होकर अपनी प्रवृत्तियों को अनुकूल प्रवर्तानेका प्रयत्न रक्खै तो जीवको निरंतर सहज ही धर्म संचित हो सकता है। ऐसे स्वाधीन और सर्वदा सहज ही संचित होसकनेवाले धर्मको कोन बुद्धिमान संचित करना न चाहेंगा? भावार्थ—पुण्यपापका संचय अपनी प्रवृत्ती के अधीन होनेसे भोग भोगते हुए भी हम सावधान रहैं, तो धर्मका साधन करसकते हैं। और इसीलिये धर्मका रक्षण तथा उपार्जन करते हुए भी भोग भोगना कठिन नहीं है। इस प्रकार धर्म तथा विषयसेवन ये दोनो एक साथ भी होसक्ते हैं।

धर्मवासनाका फलः—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्धन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥ २६ ॥

अर्थः—जबतक जीवोंके हृदयमें धर्मवासनाका पूरा वास रहता है तबतक वे जीव अपने घातक (सर्पादि) का भी प्रतिघात करना अनुचित समझते हैं। परंतु देखो, जब हृदयसे धर्मवासना निकल जाती है; अथवा होती ही नहीं तो, पिता पुत्रोंमें भी परस्पर एक दूसरेका घात करडालते हैं। इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जीवोंकी रक्षा एक-मात्र धर्मके ही रहनेसे होसकती है। धर्मके अतिरिक्त प्राणीका कोई भी रक्षक नहीं है। इसलिये धर्मका संचय सभीको करना अवश्य है।

विषयसेवन पापका कारण है तो भी उसके साथ साथ
धर्म संचित करनेका मार्ग दिखाते हैं:—

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥ २७ ॥

अर्थः—पूर्व पुण्योदयसे मिले हुए विषयसुख भोगने मात्रसे पापबंध नहीं होता। तो? पुण्यबंधके कारण जो मंद कषाय, संतोष तथा

अहिंसादि परिणाम, उनको नष्ट कर तीव्र कषाय, प्राप्त विषयोंमें असंतोष, अप्राप्त विषयोंके प्राप्त होनेके लिये अत्यंत तृष्णा तथा असीम अन्यायादिरूप प्रयत्न आरंभ करना तथा जीवघात करना, इत्यादि कारणोंसे पापकर्मका बंध अवश्य होता है। जैसे मिठाई खालेने मात्रसे अजीर्ण नहीं होजाता, किंतु खानेकी कुछ मर्यादा ही यदि रक्खी न जाय तो अवश्य अजीर्ण होना संभव है।

भावार्थ—पूर्वोक्त सुख, जो कि संसारसे छुटकारा मिलनेपर ही जीवको प्राप्त होसकता है; वह तो इस गृहस्थ आश्रममें रहकर विषय सेवन करते हुए साक्षात् कभी प्राप्त हो नहीं सकता। उसका कारण एक मात्र सर्व पापारंभ रहित जैनेश्वरी मुनिदीक्षा ही है। परंतु ऐसा भी न समझना चाहिये कि जबतक किसी जीवसे सर्वथा विषयासक्ति छूटकर नष्ट न हो जाय और मुनिधर्मका धारण न होसके तबतक उसके लिये धर्म साधनेका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि पापका कारण कषायोंकी तीव्रता है और पुण्यका कारण कषायोंकी मंदता है। वह कषायोंकी मंदता गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी जीव चाहें पूर्ण न करसकता हो परंतु कुछ कुछ तो भी करसकता है। वस, गृहस्थीमें जितनी कषायमात्रा घटेगी उतना पुण्यकर्मका संचय वहां भी होगा। जैसा कि पहले कह चुके हैं "परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः"।

अव यह देखना चाहिये कि पापका कारण जो कषायोंकी तीव्रता वह कैसे होती है और पुण्यका कारण जो कषायोंकी मंदता वह कैसे होसकती है? जो सहज प्राप्त हुए विषयसंबंधी इष्टानिष्ट पदार्थ, उनके संबंधानुसार अनुद्विग्न रहकर भोग भोगना, अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयोंकी तरफ उत्कट राग द्वेष न रखना, अन्याय, लोक या राज्यके विरुद्ध प्रवर्तनेका साहस न करना और जैन मार्गकोही परमार्थ कल्याणकारी समझना इत्यादि, मंद कषायके भेद हैं। ऐसा होनेसे इंद्रियविषयका भोक्ता भी धर्मका संचय करसकता है। इससे उलटी प्रवृत्ति रखनेसे

कषायकी तीव्रता होती है और वह पापका कारण है। क्योंकि, चाहें इससे होनेवाला शुभाशुभ बंध अनुभवगोचर न हो परंतु कषायोंकी मंदतासे साक्षात् ही सुखशांती मिलती है; और तीव्रता होनेसे सुखशांती का भंग होकर आकुलता-दुःख नजर आते हैं; इसलिये कषायोंकी तीव्रता तथा मंदता परोक्षरीत्या भी सुख दुःखके ही कारण होंगे ऐसा अनुमान होता है।

धर्मघातक आरंभ यदि दुःखका कारण ही हो तो शिकार वगैरह खेलते आनंद क्यों होता है? इसका उत्तरः—

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं,
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः।
संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनै-
र्धर्म्ये कर्माणि किं करोति न भवान् लोकद्वयश्रेयसि॥ २८॥

अर्थः—शिकारका नाम मृगया है। श्लोकमें आदिशब्दके होनेसे मद्यादि भी लिया जासकता है। मृगया आदि कर्म करनेमें आकुलता उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, शरीर और मनमें असावधानता उन्मत्तता वगैरह उत्पन्न होती है। इस सबके होनेसे शरीर तथा मनमें सुखशांती नहीं रह सकती किंतु क्रूरता या निर्दयता प्रगट होजाती है। ऐसा विचार करनेसे मृगया आदि प्रत्यक्ष ही दुःखका कारण है। कभी कभी तो सिंहादि प्रबल जीवोंकी मृगया करते समय उनके द्वारा मृगया करनेवाले मनुष्य ही खुद मारे जाते हैं। दूसरी बात यह कि यह कर्म, विचारने पर भील चांडालादि पापी नीच मनुष्योंका प्रतीत होता है। पर भवमें तो यह अत्यंत भयंकर नरकादिदुःख देनेवाला है ही। ऐसा होने पर भी यदि तेरे मानलेनेसे सिर्फ यह कर्म तुझे सुखदाई जान पडता है तो उस संकल्पको तू उस उभयलोक सुखदाई धर्ममें ही क्यों नहीं लगाता है? कि इंद्रियविषयोंको पूर्ण भोगते हुए भी विचारवान् चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषोंने जिसका पालन किया। अतः विचार करनेपर

जान पडता है कि मृगया आदिक दुःखदाई ही हैं, केवल अपने मनके संकल्पमात्रसे उसमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको सुखदाईसे भासते हैं।

देखो, दुःख वही है जिससे शांतीका भंग होकर आकुलताकी वृद्धि हो तथा नीच कर्म समझ लोग जिसकी निंदा करते हों। शिकार खेलनेवाले जब शिकारमें लगते हैं तब उन्हें जैसे सहज मिलसकनेवाले तृण घास तथा अन्नकी प्राप्ति करनेमें उद्वेगरहित थोडासा प्रयत्न करना पडता है वैसे उद्वेग-रहित थोडेसे प्रयत्नसे सफलता प्राप्त नहीं होती किंतुसहजशांत आत्मस्वभावके विपरीत क्रूरतासे भरा हुआ पूरा प्रयत्न करना पडता है। सहजशांत आत्मस्वभावका जितना जिस कार्यके करनेमें भंग हो उतना ही वहां दुःख तथा पाप समझना चाहिये। अन्नादिके मिलानेमें भी यदि किसीको क्रूरता अशांतीसे भरा हुआ उद्योग करना पडता हो तो वहां भी दुःख तथा पाप समझना ही चाहिये। परंतु अन्नादि प्रातिके लिये उद्योग इच्छा रखनेपर शांतिपूर्वक भी होसकते हैं। इसलिये उन उद्योगों की अधिक बुराई नहीं की। किंतु मृगया ऐसी नहीं है, इसमें सदा शांतीका भंगकर क्रूरतापूर्ण आत्मविरुद्ध ही प्रवृत्ति करनी पडती है। इसीलिये इसका परित्याग करना सभी जगह अच्छा कहा है। सात्विक वृत्तीके मनुष्य इस कार्यमें कभी नहीं पडते। किंतु भील चाण्डालादि अबोध पामर मनुष्योंकी ही इसमें विशेष प्रवृत्ति दीख पडती है। इसलिये यह कार्य निंद्य तो अवश्य ही है।

मृगया कर्म करनेवालोंकी और भी असीम निर्दयताः—

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिकाः।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा॥ २९॥

अर्थः—जिनका शरीर सदा भययुक्त रहता है, कोई भी जिनका रक्षक नहीं है, जो सर्वथा अपराधरहित हैं, शरीरके अतिरिक्त कुछ भी जिनके पास संपत्ति नहीं है, दातोंमें जिन्होंने तृण दवा रक्खे हैं ऐसी हरिणियोंको ही जब हिंसक लोग मार देते हैं तो दूसरे जीवोंमें तो वे दया करेंगे ही क्या? जिनको अपने शौर्यका अभिमान होता है अथवा

जो न्यायमार्गपर चलनेवाले होते हैं वे ऐसे जीवोंका बध कभी नहीं करते कि जो भयभीत हो, अनाथ हो, निर्दोष हो, जिसने अपने दांतोंमें तृण दवालिया हो, निर्बल रंक हो अथवा कोई स्त्री हो। जिसमें उपर्युक्त कोई एक भी स्वभाव हो वही जब अबध्य है तो जिस हरिणीमें अबध्यताके उपर्युक्त सभी स्वभाव मिलते हैं उसको हिंसक लोग कैसे मारडालते हैं यह आश्चर्य की बात है। जब कि इस प्रकार बधक मनुष्योंकी निर्दयतापूर्ण निःशंक प्रवृत्ति होती है तो वे आत्मस्वभावप्रतिकूल दुःख तथा पापके कर्ता हैं कि नहीं इस बातका विचार सहज होसकता है। आत्माकेलिये अहीत तथा दुःख वही समझना चाहिये कि जो आत्माके सहज स्वभावसे विरुद्ध हो।

अब चोरी आदि कुकर्मोंका त्याग कराते हैं :—

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखाऽऽयार्थम् ॥ ३० ॥

अर्थः—चुगली खाना, दीनता रखना, कपट करना, चोरी करना, झूट बोलना, मुनिहत्या आदि पातक करना इन कुकर्मोंको छोडकर रे भव्यात्मन्, तू इह परलोकका हित सिद्ध कर, जिससे कि धर्मकी प्राप्ति हो संपत्तिकी प्राप्ति हो, कीर्ति तथा सुख मिलै, पुण्य कर्मका आगेके लिये संचय हो।

प्राणघातकी तरह चोरी आदि कामोंके करनेमें आत्माकी सहजशांती नष्ट होकर आकुलता, दुःख बढते हैं। नीच मनुष्योंके ये कार्य हैं। ऐसा करनेसे अन्यायमार्ग बढता है। जिन जीवोंके ऊपर ये कर्म किये जाते हैं उन्हें असीम दुःख होता है। इसलिये श्रेष्ठ आत्महितेच्छु मनुष्योंको इन कुकर्मोंसे भी दूर रहना चाहिये। भावार्थ, अहिंसादि व्रत धारण करनेसे ये उपर्युक्त दोष दूर हो जाते हैं। अचौर्य वृतके होनेसे कपट और सत्यव्रतके होनेसे चुगली तथा दीनता एवं अहिंसा व्रतके होनेसे मुनिहत्या आदिक पापक्रिया सहज ही छूट जाती

हैं। इसलिये व्रती होनेसे सहजमें इहपरलोकका सुधार हो सकता है।

व्रतियोंको भी कभी कभी उपसर्गादि भयंकर वेदनाके निमित्त उपस्थित होजानेसे अहिंसा, झूठ बोलने इत्यादि पापोंमें प्रवृत्ति करनी पडती है यह शंका होना साहजिक है। परंतु पुण्यके योगसे सर्व उपद्रवोंका दूर होना संभव है। देखोः—

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोपि नोपद्रवोभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः पद्मेषु पश्य विद्धाति
विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—रे भव्य, पुण्यका संचय कर। जिसने पुण्यका संचय किया हो उसको असामान्य उपद्रव भी कुछ दुःख नहीं देसकते, किंतु उलटे संपत्ति मिलनेके कभी कभी कारण होते दीखते हैं। देखो, जो सूर्य संपूर्ण जगको संतापित करनेवाला है, कमलोंमें उसीसे विकाशरूप शोभा प्रगट होती है।

यहां शंका होगी कि उपद्रव या उपसर्गसे विभूति या सुखकी प्राप्ति कैसे हो? क्या कभी विष खानेसे भी मनुष्य जिएगा या पुष्ट होगा? इसका उत्तर यही है कि पुण्यकी महिमा अकथनीय है। उपसर्गोंसे दुःख पापी जनोंको ही होता है। इसकेलिये सूर्यका दृष्टांत बस है। देखो, जिस सूर्यसे सभी जगको संताप होता है पर कमल उसके किरण पाकर भी खिलते ही हैं।

कोई चाहें कि मैं पुण्य कर्मकी परवाह न करके अपने पुरुषार्थसे ही दुःख दूर करसकता हूं तो यह विचार सब व्यर्थ है। देखोः

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम् ॥ ३२ ॥

अर्थः—जिसका मंत्री बृहस्पति, प्रधान शस्त्र वज्र, सेना देवताओंकी, स्वर्ग किला, हरीकी जिसपर पूर्ण कृपा, जिसका वाहन ऐरावण हस्ती, इंद्र ऐसे आश्चर्यकारी असाधारण रक्षाके उपायसे युक्त था तो भी प्रतिपक्षी रावणादि राक्षसों द्वारा पराजित होगया। इसलिये यह बात खुलासा हुई कि जीवको असली शरण दैवका ही होसकता है। केवल पौरुषके भरोसे पर गर्व करना व्यर्थ है, ऐसे पौरुषको धिक्कार हो।

सारांश यह है कि इच्छानुसार प्रयत्नपूर्वक सिद्ध हुए कार्योंको पुरुषार्थजन्य मानना चाहिये और इच्छासे तथा प्रयत्नसे विरुद्ध सिद्ध होनेवाले कार्योंको दैवाधीन मानना चाहिये। परंतु कारण प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिकेलिये दोनो ही लगते हैं। हां जहां एक मुख्य होता है वहां दूसरा गौण होता है, परंतु जरूरत गौणकी भी लगती है। नहीं तो वह गौण भी क्यों माना जाता है? गौण माना जाता है इस लिये वह उदासीन या कमजो है परंतु तो भी कारण अवश्य है। दैवको जो प्रधान माना जाता है उसका अभिप्राय एक तो यह है कि संसारी जीव अपनी इच्छानुसार सदा इष्टसिद्धि नहीं करपाता इसलिये एक परोक्ष कारण दैव भी मानना पडता है। दूसरा अभिप्राय यह कि, आगामी भव सुधारनेकेलिये दैव माननेबालेकी ही अच्छी प्रवृत्ति हो सकती है, नहीं तो नहीं। इसलिये दैवपर दृष्टि रहना बहुत जरूरी है।

किसीकी समझ होगी कि दैवपर भरोसा रखकर

---

(१):—यह इंद्र जैनशास्त्रानुसार वह होसकता है कि जिसने विद्याधर होकर इंद्रकीसी अपनी सर्व चेष्टा बनारक्खी थी और वह रावणके द्वारा अंतमें पराजित हुआ। हिंदू धर्मके पुराणोंमें यों लिखा है कि स्वर्गका इंद्र ही दैत्य, राक्षसोंके साथ लडकर एक वार परास्त हुआ है। परंतु यह कथा बुद्धिमानोंको विचार करने योगय है, क्योंकि, देव और मनुष्योंका क्या जोड? देवोंके सामने मनुष्योंकी शक्ति अत्यंत तुच्छ है। रावणादिक भी अंतको मनुष्य ही तो थे।

उपवास, ध्यान, घोर तपश्चर्या आदि धर्म कार्योंमें प्रवृत्ति करने बाले मनुष्य पहले ही थे, अब नहीं हैं। परंतु इस समझको दूर करते हैं:—

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोप्यमी ॥३३॥

अर्थः—जैसे कुलाचल=हिमवान् आदि पर्वत भरतक्षेत्रादि भूमियोंका विभाग करते हुए उन भूमियोंके रक्षक हैं--स्वामी हैं, तो भी उन भूमियोंके साथ कुछ मोहित नहीं होते हैं, इसी प्रकार जो जगका उद्धार करते हुए भी स्वयं जगमें फसे हुए नहीं हैं। जैसे समुद्र रत्नोंकी खानि होकर भी उनसे सर्वथा निर्लोभ रहता हैं इसी प्रकार जो रत्नतुल्य अनेक सद्गुणोंकी खानि होकर भी ध(उ)नसे अत्यंत निस्पृह रहते हैं। आकाश जिस प्रकार सव जगह पसरा हुआ होकर भी किसीसे लिप्त नहीं होता, पर सभी जगत्को विश्रांति देता है और क्लेश दूर करता है; इसी प्रकार जो ज्ञानादि अनेक गुणोंके द्वारा सर्व जगभरमें व्यापक हैं और इसीलिये जगको सदुपदेश द्वारा विश्रान्ति देनेबाले हैं, तो भी जगसे सर्वथा अलिप्त रहने बाले हैं। ऐसे चिरंतन मुनियोंके शिष्य कितने ही संत पुरुष आजकाल भी विद्यमान हैं जब कि, ऐसे पुरुषोंकी अत्यंत विरलता हो रही है।

जिस समय यह ग्रंथ बनाया गया था उस समय भी श्रेष्ठ साधुओंकी बहुत कुछ विरलता होचुकी थी। इसीलिये उत्कृष्ट चारित्रका जो वर्णन है वह वर्णनमात्र ही दीखता था। और यह शंका होना उस समय सहज था कि ऐसा उत्कृष्ट वर्णन वर्णनमात्र ही है। ऐसे उत्कृष्ट चारित्रका धारक कोई हो नहीं सकता। इस शंकाके निरासार्थ यह उत्तररूप श्लोक लिखा गया है।

ऐसे उत्कृष्ट मार्गको न स्वीकारने वालोंकी अवस्थाः—

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम् ।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननिदंष्ट्रान्तरगतो,
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममसुम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—पिता पुत्रको और पुत्र पिताको अनेक तरहसे ठगकर विषय-सुखमें मोहित हुए दोनो ही, थोडेसे सुखके स्थानभूत राज्यपदको मिलानेकी अनेक चेष्टा करते हैं। अहो, यमराजकी जन्ममरणरूप दाढोंके बीचमें फसा हुआ भी यह भोला प्राणी, निरंतर शरीरको चवाते हुए इस यमकी तरफ दृष्टि तक नहीं देता !

भावार्थः—किसी भी मनुष्यका यह भरोसा नहीं है कि कब उसका मरण हो जायगा। और मरणके अनंतर तो इस जन्ममें संचित की हुई विषय-सामग्री काम दे ही नहीं सकती। तो भी मनुष्य अपनी चालाकी मायाचार आदि करके अनेक तरहके विषयभोग राज्यसंपदा आदिके संग्रह करनेमें कमी नहीं करता है। वे भी परस्पर वंचना करनेसे चूकते नहीं हैं, जिन पितापुत्रोंका कि परस्पर बडा भारी प्रेम माना गया है। जो धर्मपर चलता नहीं उसीके ऐसे विचार होते हैं कि मैं यदि विषय-सामग्रीको बहुतसा इकट्ठा करलूंगा तो चिरकालतक सुख भोगूंगा। वह समझता है कि यह संसारकी विभूति शाश्वत है, कभी मुझसे जुदी नहीं होगी। ऐसा समझता है, तभी तो विषय संग्रह करनेमें न्याय अन्याय,सुख दुःख, बुराई भलाईका कुछ भी विचार तथा परवाह नहीं करता। जो कि धर्मको जानते हैं वे इस संसारकी संपदाको क्षणिक समझते हैं, इसलिये वे इसमें रत क्यो होने लगे ?।

विषयजन्य अन्धताको नेत्रोंकी अन्धतासे भी अधिक दिखाते हैंः—

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥ ३५ ॥

अर्थः--जो मनुष्य विषयवासनामें अंधा हो रहा है वह नेत्रान्ध मनुष्यसे भी बहुत भारी अंधा है। क्योंकि, नेत्रका अंधा तो बेचारा नेत्रसे मात्र देख नहीं सकता, परंतु यह विषयान्ध तो सभी तरहके ज्ञानसे शून्य हो जाता है। आखोंका अंधा नेत्रसे न देखनेपर भी मनसे विचार करता है, स्पर्शनादि बाकी इंद्रियों द्वारा भी जाननेकी शक्ति रखता है, सावधान रहता हुआ चाहें जिस बातका हिताहितके अनुकूल अनुभवन कर सकता है। परंतु विषयांधको सर्व इंद्रियां होकर भी वह विवेक-शून्य हो जाता है, कुछ भी हिताहितकी तरफ विचार नहीं कर सकता। इसलिये विषयान्ध ही सच्चा अंधा है।

विषयोंमें तीव्र वांछा रखनेवालेकी निन्दाः—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥

अर्थः—अरे, प्रत्येक जीवका आशारूप खड्डा इतना विस्तीर्ण है कि जिसमें संपूर्ण संसार यदि भरा जाय तो भी वह संसार उसमें अणुमात्रके तुल्य दीखेगा। अर्थात् सभी संसार उस खड्डेमें डाल देनें पर भी वह खड्डा पूरा नहीं होसकता किंतु वहां पडा हुआ सारा वह संसार एक अणुमात्र जगहमें ही आसकता है। परंतु तो भी ऐसी विशाल आशा रखने मात्रसें क्या किसी जीवको कभी कुछ भी मिल जाता है? इसलिये ऐसी आशा रखना सर्वथा वृथा है। भावार्थ, यदि आशा रखने से कुछ मिलै भी तो किस किसको? आशा तो सभी संसारी जीवोंको एकसी लग रही है। और प्रत्येक आशावान् यहीं चाहता है कि सर्व संसारकी संपदा मुझै ही मिल जाय। अब कहो, वह एक ही संपदा किस किसको मिलै? इधर यदि प्रत्येक प्राणीकी आशाका प्रमाण देखा जाय तो इतना बडा है कि एक जग तो क्या, ऐसे अनंतों जगत्की संपत्ति उस आशा-गर्तमें गर्क हो जाय, तो भी वह गर्त पूरा भर नहीं पावेगा। पर आता जाता क्या है? केवल मनोराज्यकीसीं दशा है।

केवल बडी बडी आशा करते बैठना प्रमथ श्रेणीके मूर्खका लक्षण है। आशा करनेवाला केवल अपनी धुनिमें ही सारा समय निकालता है, करता धरता कुछ नहीं। उसकी बुद्धि धर्ममें भी लगती नहीं और कर्ममें भी लगती नहीं। इसलिये धर्म-कर्म विना वह सुखी कहांसे हो? उसकी दशा एक शेखकीसी हो जाती है कि जो सरायके द्वारपर बैठा हुआ भीतर आते हुए घोडे, हाती, धन, दौलत वगैरहको देखकर अपनाता हुआ खुशी होता था; और रातबसेरा कर, जाते हुए देख दलगीर होता था। क्या उसको ऐसी केवल आशा धरके निष्कर्म बैठनेसे कुछ मिल जाता था? कुछ नहीं। यही दशा केवल आशाग्रस्त सभी संसारी जीवोंकी है। इसलिये आशा छोडकर निश्चय-व्यवहाररूप धर्ममें लगना सभीको उचित है।

पुण्य संचित करनेका उपदेशः—

आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं,
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेप्यात्मनि।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येत्र मन्दोद्यमा,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम्॥ ३७॥

अर्थः—दीर्घ आयुष्य, लक्ष्मी, उत्तम शरीर इत्यादि सांसारिक विषय-सुखकी सामग्री उत्तम तभी मिलसकती है कि यदि पहले कभी पुण्य कर्मका उपार्जन किया हो। नहीं तो चाहें जितना निरंतर आत्माको क्लेशित किया जाय परंतु कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ऐसा विचार कर ही श्रेष्ठ पुरुष, जो कि समयानुसार अपना काम सिद्ध करनेमें कुशल हैं, वे इस वर्तमान जन्मके लिये तो यह विचार कर उद्यम विशेष नहीं करते कि, जो कुछ पूर्वका पुण्यसंचय हमारे पास होगा तदनुसार ही हमको इस समय फल मिलेगा। क्या केवल उद्योग कार्यकारी हो सकता है? नहीं। इसीलिये आगामी जन्मकेलिये वे निरंतर शीघ्रताके साथ और अत्यंत प्रीतिके साथ पुण्य संचय करनेमें असीम प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ, यह वर्तमान जीवन थोडेसे दिनका है। उसका निर्वाह चाहें जिस प्रकारसे होसकता है। यदि पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म हैं तो परिश्रम तथा चिंता न करते हुए भी विषयभोग अवश्य मिलेंगे। नहीं तो न मिलैं या विपरीत मिलैं। खैर, कुछ भी हो, तो भी इस जन्मका निर्वाह तो किसी प्रकार भी हो सकता है, क्योंकि बहुत ही थोडे कालतक यह रहना है। किंतु आगामी भवोंमें चिरकालतक भ्रमण करना है और तत्रापि वे भव सब परोक्ष हैं। इसलिये उनके सुधारकी या उनसे छुटकारा पानेकी चिंता करना बहुत जरूरी है।

प्राप्त हुए भी भोगोंमें मंदोद्यमी रहनेका हेतुसहित उपदेशः—

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना,
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचि कृतं येनाभिमानामृतम्।
आज्ञातं करणैर्मनःप्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्,
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः॥३८॥

अर्थः—कटुक विषके समान इन विषयोंमें ऐसा क्या स्वाद है कि जिससे तेने विषयसुखकी वांछा उत्पन्न करके अत्यंत दुःखी होकर उन विषयोंकी खोज करनेमें अपना स्वतंत्रताका अभिमान, जो कि अमृतके तुल्य निर्मल और सुखदायक था, मलिन करलिया, और इसीलिये मनरूप स्वामीके सेवक जो इंद्रियां उनकी आज्ञामें तुझै रहना पडा। अरे, तू विवेकी था तो भी तेरा अनुभव, इन राग-वासनाओंने उलटा करदिया! जैसे कि विवेकी मनुष्यके स्वादको भी पित्तज्वर विपरीत कर डालता है। इसीलिये तो जिन विषयोंमें कुछ भी स्वाद नहीं है अथवा जो परिपाकमें विपरीत स्वाद देनेवाले हैं उनके पीछे तू उन्हें इष्ट समझ कर लग रहा है। यह बडा खेद है।

विषयतृष्णाकी बहुतायत दिखाते हैं:—

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत्॥ ३९॥

अर्थः--आत्मन्, तुझै तृष्णा तो इतनी प्रबल है कि तीनो जगके भोगोंसे भी निवृत्त नहीं होसकती । तो भी मुखादि इंद्रियों-द्वारा विषय ग्रहण करते करते भी जो बहुतसी शेष रही हुई वस्तुएं दीख पडती हैं वे मुखादिके द्वारा सारा भोगलेनेकी असमर्थताके कारण समझना चाहिये, न कि मनका संतोष होजानेके कारण । जैसे राहु, चंद्र और सूर्यको निगलना तो पूरा ही चाहता है परंतु शरीररहित होनेके कारण पूरा निगल नहीं सकता । इसीलिये चंद्रसूर्य दोनो अभीतक बचे हुऐ हैं ।

कितने ही मनुष्योंका सदा यह विचार रहता है कि हम अपने तारुण्यतक तो तृप्तिभर भोग भोगें । बुढापा जब आवेगा तब सर्व विषयोंसे विरक्त होकर विषयोंको छोडकर आत्मकल्याणकी फिक्रमें लगेंगे । ऐसा करनेसे ये मिले हुए भोग भी यों ही नहीं जायंगे और हम परभवका प्रबंध भी करलेंगे । ऐसोंको समझाते हैं:-

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुन-
स्तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम् ।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते,
मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥४०॥

अर्थः—रे जीव, तू यह विचार, कि यद्यपि चक्रवर्ती आदि बडे बडे नृपतियोंने कदाचित् विशाल राज्यभोगको पाकर भी उसको संसारका सारभूत समझकर बहुत कालतक भोगा, शीघ्र ही छोडा नहीं । तो भी उनको शाश्वत मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति तो तभी हुई ना, जब कि उस राज्यभारको छोडकर उन्होंने घोर तपश्चरण किया । इसलिये जब कि ये विषय ग्रहण करनेके बाद भी छोडने योग्य ही हैं तो तू उन्हें पहले ही क्यों न छोडकर विरक्त हो, जिससे कि ग्रहण करके छोडनेपर जो तेरी हसी होने बाली है वह न हो । जैसे किसी एक आदमीने जादूगरीसे लड्डू तयार किये या तयार कर किसीको दिये हों, और वे जब

कि शीघ्र ही दीखते दीखते अदृश्य हो जांय तो, उस समय जिसने वे लड्डू लेरक्खे थे उसकी तरफ लोग हसने लगते हैं। इसी प्रकार जिन विषयोंको पाकर तू मग्न होरहा है वे विषय सदा तेरे पास रहनेवाले नहीं हैं। देखते देखते किसी दिन चपलाकी तरह विलीन हो जांयगे। पाप कर्मका उदय यदि वीचमें ही आगया तो मरनेसे पहले ही वे विषय नष्ट हो जांयगे। और तेरे चाहते हुए भी हाथसे निकल जाने पर लोग तेरी हसी करेंगे। इसलिये तू अपनी हसी आपही क्यों कराता है? अथवा जिस तरह मनुष्य माटी वगैरहके तयार हुए नकली लड्डूको भी दूरसे देखकर तो उसे लेना चाहता है, पर हाथमें आते ही समझ जाता है कि इसमें कुछ सार नहीं। तब छोडते देख लोग हसते हैं। इसी प्रकार तू, जबतक प्राप्त नहीं हुए तभीतक भोगोंको चाहता है। पर पाने पर निस्सार दीखेंगे और तू उन्हें छोडना चाहेगा; तब लोग तुझे देख, हसेंगे। इसलिये पहले ही उन्हें छोड। भोगकर छोडने बालोंकी होड मत कर।

बहुतोंका विचार ऐसा होता है कि गृहाश्रममें रहकर भी हम धर्म साधन करके अपना कल्याण कर सकते हैं। पर,

गृहाश्रममें पूर्ण कल्याण होनहीं सकती। देखोः—

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं नहि हितो गेहाश्रमः सर्वथा॥ ४१॥

अर्थः—बुद्धिमान् मनुष्योंके चरित्रको भी यह गृहाश्रम कभी तो धर्ममय कर देता है, जब कि सामायिक आदि क्रिया की जाती हैं; कभी, अर्थात् स्त्रीसंभोगादिके करनेमें केवल पापमय ही सर्व चेष्टा कर देता है: और कहींपर, जब कि जिनपूजनादि किये जाते हैं तब जीवके चरित्रको पापपुण्यसे मिला हुआ करदेता है। ये सब चेष्टाएं ऐसी होती हैं, जैसी कि किसी पागल आदमी की उन्मादभरी हुई चेष्टाएं हों। अथवा जैसे

एक अंधा आदमी रस्सीको आगे आगे तो वटता जाता है और पीछेसे उसके बल खुलते जाते हैं। अथवा हस्ती प्रथम तो स्नान करता है और पीछेसे अपने ऊपर धूल डाल लेता है। ठीक, गृही मनुष्यकी भी सर्व चेष्टाएं इसी तरहकी होतीं हैं। इसका कारण केवल गृहाश्रमका संबंध है। जब कि ऐसा है तो इस गृहाश्रमसे किस प्रकार हितसिद्धि हो सकती हैं? इसलिये जब कि तू हित चाहता है तो गृहाश्रमका संबंध सर्वथा छोड।

बहुतसे मनुष्य समझते हैं कि हम गृहस्थीं होकर अपने पुरुषार्थसे धन कमाकर स्वतंत्र होकर भोगोंको भोगते हुए भी सुखी रहेंगे; घर त्यागनेसे क्या कल्याण हो सकता है? घरमें रहकर तो जैसा अधिक पौरुष करेंगे वैसा ही अधिक धन मिलनेसे अधिक सुखी होंगे। उनको दिखाते हैं कि गृहाश्रममें जो कार्य आजीविकार्थ किये जाते हैं वे सभी दुःखदायक हैं। देखो,—

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ,
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतासु यन्मृगयसे वाञ्छेर्विषाज्जीवितुं,
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया ॥ ४२ ॥

अर्थः—तू अपने उदर-निर्वाहार्थ तथा इंद्रिय-भोगोंके सेवनार्थ खेत जोतनेमें और बीज बोनेमें, एवं राजसेवा करनेमें तथा व्यापारके लिये जंगलों जंगलों भटकनेमें अथवा समुद्रमार्गसे भ्रमण करनेमें चिरकालसे क्यों क्लेश उठा रहा है? अरे, हा, अज्ञानके वश यह सब कष्ट तुझे भोगना पडता है। क्या इस प्रकार बहुतसा उद्योग करनेपर भी तू सुखी हो सकता है? नहीं। क्योंकि उद्योगमात्र सुख मिलनेका कारण नहीं है। सुखका कारण धर्म है। इसीलिये जबतक धर्म है तबतक अनायास भी सुख मिलता है। नहीं तो बहुतसा क्लेश करनेपर भी कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये तेरी ये सब क्रियाएं जबतक कि धर्मसे शून्य हो रही हैं तबतक तू ऐसा समझ कि मैं बालूमेंसे तेल

निकालना चाहता हूं। अथवा विष खाकर चिरकाल जीवित रहना चाहता हूं। तू यह नहीं समझता है कि आशारूप पिशाचके निग्रह करनेपर ही पुण्यबंधके होनेसे मुझे सुख शांति मिल सकेगी। धर्मकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय, उत्कट तृष्णाको त्याग कर संतोष धारण करना ही है। इससे धर्म तो होता ही है, किंतु सुखका अनुभव साक्षात् ही होता दीखता है। इसलिये सुख यदि होगा तो साक्षात् तथा परंपरया संतोषसे ही होगा।

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखघर्मापनोदिनः॥ ४२॥

अर्थः—जैसे कोई मनुष्य सूर्यके संतापसे दुःखी होकर जलते हुए वांसोंकी छायामें जाकर यदि बैठै तो वह कभी सुखी नहीं होगा, उलटा पीडित ही होगा; क्योंकि, एक तो वांसकी छाया बहुत ही कम, दूसरें, आपसमें घिसनेसे वे स्वयं जलने लगते हैं। इसीलिये संताप दूर होना तो दूर ही रहा, उलटा उससे अधिक संताप होगा। सुखाभिलाषाके वश यदि वह मनुष्य तो भी बहुत समय तक वहां बैठा ही रहा तो कदाचित् खुद जलकर भी मर जायगा। इसी प्रकार आशा तो अग्निके समान है, उस आशाग्निसे व्यापे हुए उसके विषयभूत जो भोग–साधक पदार्थ हैं वे वांसोंके तुल्य हैं, दुःख सूर्यसंतापके तुल्य है। एवं छायाके भी दो अर्थ होते हैं, एक तो प्रकाशके रुकनेसे जो पडछांही पडती है वह, और दूसरा अर्थ अल्प या लेशमात्र। इसलिये दृष्टांतसे मिला–जुला यह अर्थ हुआ कि, देखो, दुःखरूप संतापसे पीडित हुए मनुष्य, आशारूप अग्निसे व्यापे हुए भोगसंबंधी जो पदार्थरूप ऊंचे वांस, उनसे उत्पन्न हुई जो छाया अर्थात् अल्पसुख, उसमें जाकर बैठना चाहते हैं और उससे विषय–वांछारूप दुःखको दूर करना चाहते हैं! यह कितना बडा अज्ञान है? एक तो तीनो लोककी वस्तु इकट्ठी होकर भी आशाकी पूर्ति के लिये वस नहीं होंगी। दूसरी बात यह कि, वस्तुओंके भोगनेसे आशा और भी अ-

धिक बढती जायगी। जैसे कि दादके खुजानेसे दाहदुःख अधिक ही बढता है, कम नहीं होता। तीसरी बात यह कि, उसीमें फसे फसे मर जानेपर नरकादि दुर्गतियोंके दुःख भी भोगने पडेंगे। क्योंकि, आशाके वश होनेसे परवस्तुओंमें ममता बढती है और जीवके विचार अशुभ या मलिन होते हैं; जिनके कि कारण घोर पापोंका संचय होनेसे दुर्गतियोंमें जाना ही पडता है। इन तीन बातोंका विचार करनेपर मालूम पडेगा कि, आशाके वश होकर विषयसामग्रीके संचय करनेमें लगना कभी सुखकारी नहीं है।

दैववश लेशमात्र सुख यदि प्राप्त भी हो तो वह स्थिर नहीं। देखोः—

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा,
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं किल।
क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूति क्रमिश्रेणिभिः,
शुष्कं तच्च पिपासतोस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम्॥ ४४॥

अर्थः—किसी मनुष्यने तृषातुर होकर शीघ्र ही जल निकलआनेकी आशासे भूमिको खोदा। परंतु खोदते खोदते जल जहां निकलना चाहिये वहांपर एक पत्थरकी शिला निकली। तो भी उसने अतिसाहसी होकर आरंभ किये कार्यको पारतक पहुचानेकेलिये तृष्णावश और भी खोदना आरंभ किया। परंतु पातालतक खोदनेपर भी बडे कष्टसे कुछ थोडासा जल निकला। पर वह भी अत्यंत खारा तथा दुर्गंधमय और छोटे छोटे जलके कीडोंसे भरा हुआ था। खैर, परंतु खोदनेवालेने उसे भी तृषावश पीना चांहा, किंतु पी नहीं पाया कि इतनेमें ही वह पानी सूख भी गया। देखो, भाग्यकी लीला बडी ही विचित्र है; और जबतक जीव उस दैवके पराधीन है तबतक कष्ट ही कष्ट है। किसीने ठीक कहा है कि ‘ विधौ विरुद्धे न पयः पयोनिधौ ’ अर्थात् दैव यदि अनुकूल न हो तो मनुष्यको समुद्रमें भी जल नहीं मिल सकता है।

न्यायपूर्वक धनी होकर भोग भोगनेकी इच्छा रखनेवालेके लिये:—

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ ४५॥

अर्थः—श्रेष्ठ पुरुषोंकी संपत्ति भी केवल न्यायानुसार चलनेसे कभी इकट्ठी नहीं होती। जैसे नदियोंकी भरती केवल स्वच्छ जलसे कभी नहीं होपाती। इसीलिये ऐसा समझकर, न्यायोपार्जित धनके द्वारा समृद्ध होनेकी तृष्णा भी नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि, केवल न्यायपूर्वक धनकी पूर्ण प्राप्ति होना साधारण जनोंको नितान्त कठिन है। दूसरें, गृहाश्रममें रहकर धन प्राप्त होनेपर भी कभी चित्त संतुष्ट नहीं हो सकता, निरंतर कोई न कोई आकुलता लगी ही रहती है। इसलिये यदि पूर्ण सुखी होना हो तो परिग्रहसे सर्वथा विरक्त होना चाहिये। तभी पूर्ण संतोष होनेपर अपूर्व सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

धन कैसा भी हो, परंतु उससे धर्म सधता है, सुख ज्ञानादिक भी प्राप्त होते हैं। ऐसा समझने वालोंसे कहते हैं:—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः॥ ४६॥

अर्थः—गृहस्थाश्रमका धर्म धर्म नहीं है, सुख सुख नहीं है और वहां ज्ञान तो पूर्ण हो ही नहीं सकता। गृहाश्रममें रहकर धर्म धारण करने वालेको शुभगति भी यदि प्राप्त हो तो स्वर्गतक हो सकती है। परंतु ये सब तुच्छ हैं। असली धर्म तो उसे कहना चाहिये जहां-पर अधर्मका लेशमात्र भी न हो। गृहाश्रमके धर्ममें थोडासा धर्म और शेष सब पाप ही पाप रहता है। गृहस्थीकी क्रिया सर्वथा ऐसी हो ही नहीं सकती कि जिससे केवल धर्मका ही संचय होता रहै। जब कि गृहस्थीमें पूर्ण धर्म ही नहीं तो पूर्ण सुख वहां कहांसे मिल सकता है? सुखके कारण दो ही हैं, एक धर्म दूसरा संतोष। परंतु संतोष भी गृह-स्थको रहता नहीं। इसीलिये यह कहा कि सुख वही है कि जिसमें

दुःखका नाम भी न हो। ज्ञान तो गृहस्थको पूर्ण होही नहीं सकता है; क्योंकि, जिस तपश्चर्याके द्वारा ज्ञानविघातक कर्मका सर्वथा नाश होनेसे पूर्ण ज्ञान मिलता है, वह तपश्चर्या घरमें रहनेसे पूरी सधती नहीं। ज्ञानाभ्यासादि द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह भी अनेक आकुलता-वश स्थिर नहीं रह सकता है। इसलिये ज्ञानका प्राप्त होना भी असली साधु–अवस्थामें ही हो सकता है। अत एव गृहस्थके तुच्छ ज्ञानको ज्ञानमें न मानते हुए ही यह कहा है कि, ज्ञान वही है जहांपर कुछ भी विच्छेद तथा अज्ञान न हो। गृहस्थ-धर्मसे परभवकी गति अधिकसे अधिक स्वर्गतक मिल सकती है। परंतु वहांसे फिर भी दूसरी गतियोंमें जाना पडता है। इसलिये वह गति भी सर्वोत्कृष्ट नहीं है। साधुपदसे मुक्तितक प्राप्त होसकती है; जहांसे कि फिर कभी लौटना नहीं पडता। इसलिये वही गति प्राप्त करने योग्य है। इसी भावको लेकर ग्रन्थकार कहते हैं कि गति वही असली है कि जहां फिर भी वापिस जानेका डर न रहता हो। इसलिये यदि पूरा हित सिद्ध करनेकी इच्छा है तो घरमें रहकर धन कमाकर विषयभोगोंको भोगकर अपनेको सुखी समझना भूल है। सुख, घरके जंजालको छोडनेसे ही मिल सकेगा।

विषयसुखकी अपेक्षा मोक्षसुखका मिलना सुलभ है। देखोः-

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥ ४७॥

अर्थः—अरे, जैसा कि तू असि मासि कृषि आदि अनेक तरहके उद्योग करता हुआ निरंतर इस विषयसुखकी प्राप्तिकेलिये क्लेश उठाता है, वैसा क्लेश यदि एकवार भी परलोकसिद्धिके लिये उठावे तो फिर तुझे जन्ममरणादिक दुःख कभी भोगने ही न पडें। अर्थात् अविनाशी सुखकी प्राप्ति होजाय। परंतु तू एक तो विषयोंमें आसक्त हो रहा है और दूसरें,

तुझे विवेक नहीं रहा। इसलिये तू ऐसा समझता है कि घरमें रहकर उद्योगसे धन कमाकर विषय भोगना सहज भी है और उससे सुख भी होता है। पर, खूब पक्का समझले कि, इससे अविनाशी सच्चे मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होना नितान्त असंभव है। इस विषय-सुखको तू सहज और सच्चा सुख समझता है। इसीसे तेरी इच्छा परिग्रह-जालसे हटती नहीं है। परंतु यह तू निश्चय समझ कि, विषयसंग्रहके लिये जितना तू क्लेश निरंतर सहता है और तो भी वे विषय इच्छित प्राप्त नहीं हो-पाते, उतना ही कष्ट यदि मोक्षसुखार्थ तेने कभी एक वार भी किया होता तो अवश्य अविनश्वर सुख प्राप्त हो गया होता। यदि अव भी वैसा करै तो अव भी कुछ विगडा नहीं है। तू डरै मत, विषयोंके उपार्जनसे मोक्ष-सुखका उपार्जन करना सहज है और वही असली सुख है।

बाह्य पदार्थोंसे राग द्वेष हटानेका उपदेशः—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावदऽदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-,
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥४८॥

अर्थः—अरे भव्य, तू वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसीलिये स्त्रीपुत्रादि इतर वस्तुओंमें मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादिको हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादिको अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों कालको यों ही गमाता है? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जबतक कि तू असली आत्मीय शांतिको प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी सभी कल्पनाएं झूंठी हैं; क्योंकि, अन्य पदार्थोंमें तुझे सुख दुःख देनेकी शक्ति नहीं है? जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दीखते हैं वे तेरी ही संकल्पवासनाके फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फसा रहेगा किंतु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझें दवा लेगा। इस लिये उससे बचनेका उपाय देख। वह यह है कि जबतक, चाहें जब आजाने

वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्निके मुखमें पडकर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अंतःकरणको पूर्ण शांत करले; जिससे कि उस कालका आक्रमण आगामी भवके लिये दुःखदायक न हो; क्योंकि, अंतरंगमें शांति (संतोष) उत्पन्न हो जानेसे शुभकर्मका बंध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होनेपर मोक्ष-सुखकी प्राप्ति भी हो सकेगी; जिससे कि फिर सदाके लिये कालका भय मिट जायगा।

आशासे छुटकारा पानेका उपायः—

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः,
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥४९॥

अर्थः—अरे भाई, अन्य वस्तुओंको अपनाता हुआ तू आशारूप नदीके बीच प्रवाहमें पडा हुआ बहुत दूरसे वहता चला आरहा है। अर्थात्, अनादि कालसे यों ही भ्रमण करता आरहा है। यह जो अभीतक भ्रमण होता आया है उसका कारण यही है कि तू यह नहीं समझता था कि मैं ही अपने सामर्थ्यसे स्वतंत्र होनेपर इसको तर सकता हूं। अब भी तू पर वस्तुओंसे ममत्व छोडकर सावधान हो, अपने स्वरूपको सँभाल, देख, किसीके अवलंबन विना, आप ही तू पार हो जायगा। नहीं तो—यदि अब भी सावधान न हुआ तो, परिपाकमें दुःखदायक कालरूप ग्राहने जिसमें गहरा मुख फाड रक्खा है और इसीलिये जो अत्यंत भयंकर है, उस संसार-समुद्रके वीचमें जाकर तू शीघ्र ही पडेगा।

वहां जाकर फिर निकलनेकी तो क्या आशा है कि कब निकलेगा, अथवा निकलेगा भी या नहीं? क्योंकि, संसार-समुद्रका असली मध्यभाग निगोदस्थान है, जहांसे कि फिर निकलनेकेलिये कोई उद्योग काम ही नहीं देता। जैसे कोई मनुष्य किसी तीव्र वेगसे वहनेवाली नदीके बीचमें पडकर बहुत दूरसे वहता आरहा हो तो वह जबतक

समुद्रमें जा न पडा हो तबतक यदि अपनी सुध सँभालकर कुछ प्रयत्न करै तो उससे निकल सकता है। नहीं तो उसके वेगमें वहता वहता जब कि समुद्रमें जा पडा तो फिर वहांसे क्या निकलना होता है ? वहां तो अवश्य किसी विकराल ग्राहके मुखमें पडकर मरण ही पावेगा। इसी प्रकार एक संसारी जीव, जिसने कि चिरकालसे दुःखदायक योनियोंमें भ्रमण करते करते मनुष्य पर्याय पालिया है; जहां कि चाहें जितना अपने कल्याणार्थ उद्योग किया जा सकता है; यदि वह कुछ न करै तो निगोदादि गतियोंमें पडकर फिर चिरकालतक वहां ही दुःख भोगते रहेगा; जहां कि अपने सुधारका कुछ भी उद्योग नहीं हो सकता है। इसीलिये फिर वहांसे निकलना अपने स्वाधीन नहीं रहता। इसलिये जो कुछ कल्याण सिद्ध करना हो वह अभी इस पर्यायमें ही करलेना चाहिये।

विषयभोग झूंठन है, इसलिये उनमें आसक्ति करनेका निषेधः—

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद् भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषत्यप्राप्तपूर्वं यथा।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥

अर्थः—अरे जीव, विषयासक्त मनुष्योंने बडी उत्कंठाके साथ जिनको अनेक वार भोगा और निस्सार समझकर पीछेसे छोड दिया, झूठनकी कुछ भी ग्लानि न करके उन्हींको तू आज ऐसे प्रेमके साथ भोगरहा है कि जैसे ये विषय पहले कभी मिले ही न हों। यद्यपि इन भोगोंको इच्छा पूर्ण होनेके लिये चाहें तू कितने ही वार क्यों न भोग; परंतु तबतक क्या शांति उत्पन्न हो सकती है ? जबतक कि अपराधरूप प्रबल अनेक शत्रुओंके सैन्यकी विजयपताकाके समान जो यह विषयाशा (असंतोष), इसे गिरा नहीं देगा। अर्थात्, जैसे शत्रु राजाओंका परस्पर जब संग्राम होने लगता है तब एक दूसरे की विजयपताका गिरादेनेके लिये दोनों ही अनेक प्रयत्न करते हैं। और जबतक एककी

वह पताका गिर नहीं जाती तबतक दोनों ही बडे व्यग्र रहते हैं। इसी प्रकार तुझे जो यह दुराशा लगी हुई है उसे तू पापकर्मरूप शत्रुओंके सैन्यकी विजयपताका समझ। जबतक यह पताका तुझसे गिराई नहीं जाती तबतक पापरूप शत्रुओंकी हार नहीं होगी। और तबतक उनसे अशांति उत्पन्न होती ही रहेगी। वह अशांति तभी मिटेगी जब कि तू उस दुराशाको मिटा देगा।

आशाके वश रहनेसे और भी जो कार्य होते हैं, वे ये हैं:—

भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं,
संमृत्त्यापि शमस्तभीतिकरुणः सर्वं जिघांसुर्मुधा।
यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः,
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥ ५१ ॥

अर्थः—विसारे सर्पके तुल्य, अनेक भवपर्यंत दुःख देनेवाले भोगोंको सेवनेकी अत्यंत उत्सुकता धारण करके तेंने आगेके लिये दुर्गतिका बंध किया। अतएव अपने उत्तर भवोंको नष्ट करदिया। और अनादि कालसे लेकर अभीतक मरणके दुःख भोगे। तो भी तू उन दुःखोंसे डरता नहीं है; निर्भय होरहा है। जिस जिस कार्यको श्रेष्ठ जनोंने बुरा कहा उसी उसीको तेंने अधिकतर चाहा और किया। इससे जान पडता है कि तेरी बुद्धि नष्ट होगई है और तुझे आगामी सुखी होनेकी इच्छा नहीं है। इसीलिये तू निंदित कार्य करके अपने सर्व सुख वृथा नष्ट करना चाहता है। ठीक ही है, काम-क्रोधरूप बडे भारी पिशाचका जिसके मनमें प्रवेश होजाता है वह क्या क्या नहीं करता है? उसको हिताहितका विवेक कहांसे रह सकता है?

(१) 'मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वान् जिघांसुर्मुधा' ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ ऐसा होगा कि, विषय भोगोंके लिये करुणा रहित सर्व प्राणियोंका वृथा वध चाहते हुए तेरा स्वयं भी मरण हुआ तो भी तू उस मरनेसे डरा नहीं, और न अभी डरता है।

विषयोंकी क्षणिकता दिखाते हैं:—

श्वो यस्याऽजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम् ।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यासितरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

अर्थः—अरे भाई, जो दिवस जिसके लिये आनेवाला था वही दिवस उसीके लिये कुछ समय वाद ही बीता हुआ हो जाता है। यह बात, क्या तू भ्रम दूर करके साक्षात् अपने ही नेत्रोंसे नहीं देख रहा है, जो कि तू इन्हीं क्षणभंगुर स्त्री–पुत्रादिकोंमें फिर फिरसे अत्यंत आसक्त होकर भटकता है? भावार्थ, सभी वस्तुएं क्षण क्षणमें औरसे और हो जाती हैं। एक भी वस्तु क्षणमात्रके लिये भी स्थिर नहीं है। जगत भरकी जड कालरूप वायुके वेगसे हली हुई है। अर्थात्, जिस दिवसका एक समय प्रभात होता है उसीका थोडे समय वाद जिस प्रकार अंत हो जाता है उसी प्रकार संसारकी सभी चीजें क्षणभंगुर समझनी चाहिये, एक भी चीज चिरस्थायी नहीं है। जब कि ऐसा है तो संसारके लोग क्षणनश्वर इन स्त्रीपुत्रादिकोंमें ही वार वार क्यों अत्यंत आसक्त होकर अपने आपेको भूल रहे हैं?

जगकी क्षणभंगुरता न समझनेसे क्या होता है?—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारीण्यलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै –,
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत् प्राप्तवान् निर्धनः ॥५३॥

अर्थः—अरे, संसारमें भ्रमते हुए तेने, नरकादि गतियोंमें, जिनके स्मरणमात्रसे भी अत्यंत भय उत्पन्न होता है ऐसे जो दुस्सह दुःख अभी तक भोगे उन्हें तो तू यों ही रहने दे; क्योंकि, वे अब साक्षात् दीखते नहीं हैं। परंतु जैसे तुषारके पडनेसे छोटे छोटे पौधे दग्ध हो जाते हैं

उसी प्रकार कामके बाणोंके तुल्य स्त्रियोंकी कामोद्दीपक मंद मंद हसीसे तथा तीक्ष्ण कटाक्षोंसे विद्ध होते हुए जो तुझे दुःख प्राप्त हुए, एवं दरिद्रताके कारण जो दुःख तुझे हुए, उन सबोंका तो तू स्मरण कर। वे तो अभी वर्तमान भवके हैं। भावार्थ, तू अनादि कालसे विवेकशून्य होरहा है। इसीलिये तेने जगकी क्षणिक मायामें फसकर अनेक वार नरकादिके तीव्र दुःख भोगे हैं। परंतु वे सभी दुःख परभव संबंधी होनेसे तेने विसारदिये हैं। खैर, अब वर्तमान ही अवस्थामें निर्धनताके कारण जो अनेक तरहके कष्ट तथा तिरस्कारादि दुःख सहे हैं, एवं कामके वशीभूत होकर जो स्त्रियोंके तीव्र ताप उत्पन्न करने वाले कटाक्ष देखकर जो तीव्र वेदना निरंतर सही है, उन्हींको तू विचार। इनके विचारनेसे भी तुझे जगकी निस्सारता समझ पडेगी।

शरीरादिदोष दिखाते हैं:—

उत्पन्नोस्यातिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान्,
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिन् वृथा,
किं मत्तोस्यासि किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

अर्थः—अरे जीव, तेने अनादि कालसे लेकर आज तक सदा ही जन्म धारण करनेके कष्ट सहे हैं। अत्यंत अपवित्र तथा दुर्गंध, दुःखदायक रुधिरादि धातुओंसे और मूत्र विष्टा आदि मलोंसे पूरित ऐसा तेरा देह है। क्रोध, मान, मायाचार, लोभ आदि दुर्गुणोंसे तू पूरित होरहा है। मानसिक सैकडों चिंताओंसे तथा वातपित्तादिजन्य शरीरसंबंधी रोगोंसे तू सदा पीडित बना रहता है। तेरी प्रवृत्ति सर्व निकृष्ट होरही है। अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूपको भूलकर तेने वंचना कर रक्खी है। कालने जो मुख फाड रक्खा है उसके बीचमें तू पडा हुआ है। बुढापेसे तू बचा नहीं है, जिसमें कि इंद्रियां शिथल हो जाती हैं, शक्ती अत्यंत क्षीण हो जाती है, विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है,

यौवनका सर्व सौन्दर्य विलीन हो जाता है, कमर बल जाती है, अनेक रोग आकर घेर लेते हैं, भूख घट जाती है; परंतु तृष्णा जहां बढ जाती है। तू यह भी याद रख कि यहां तू अनादिका नहीं है जिससे कि अपना नाश होना असंभवसा समझ रहा हो। किंतु यहां भी कहींसे आकर ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यहांसे भी तुझै जाना पडेगा। ऐसी अवस्थामें भी तू आत्मकल्याणसे पराङ्मुख क्यों हो रहा है? क्यों उन्मत्त बन रहा है? क्यों तेरी वासनाएं अहित कर्मसे हटती नहीं हैं?

विषयमें फसनेबालेको आपातमात्र भी सुख नहीं होता। देखोः—

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः,
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल,—
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

अर्थः—जैसे कोई बूढा असमर्थ बैल पानी पीनेकी इच्छासे जलके पास जाकर वहांके लंबे चौडे दलदलमें यदि फस जाय तो वह बाहिर निकलने की चाहें जितनी खटपट करनेका श्रम उठावै परंतु क्या बाहिर फिर निकल सकता है? नहीं। उलटा श्रम करनेसे खिन्न होगा और ऊपरसे सूर्यके जो तीक्ष्ण किरण पडेंगे उनसे अत्यंत दुःकित होगा, अंतको उसीमें मर जायगा। इसी प्रकार जीव भी बढी हुई विषयतृष्णाके वश होकर सूर्यकिरणोंके समान कठोर तथा संतापकारी संपूर्ण इंद्रियोंसे तप्तायमान होता हुआ जब अनेक तरहके अनवरत उपाय करके भी पूर्ण अभीष्टको नहीं पाता है तब पापके उदयवश तथा अनेक श्रम करनेके कारण अत्यंत खिन्न होता है। इसका कारण केवल यह है कि, उसको असली सुखोपायका और अपना अभीतक भान ही नहीं हुआ है कि, मैं कौन हू, और असली सुख कैसे मिल सकता है? अज्ञानीकी दशा सभी जगह ऐसी ही होती है।

विषयसामग्री मिलनेपर भी सुखका अभाव दिखाते हैं:—

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः ।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

अर्थः—मोहके वश जीवोंका शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरंतर मनमें रागद्वेषरूप दाह जाज्वल्यमान बना ही रहता है । इसलिये मोहको विवेकी साधुओंने एक तरहका अग्नि कहा है। परंतु यह अग्निसे भी बढकर है । अग्नि तो ईंधनका संबंध जबतक रहता है तभीतक जलता है=प्रदीप्त रहता है; ईंधन नहीं रहा कि बुझ जाता है, परंतु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषयरूप ईंधन रहनेपर भी जाज्वल्यमान होता रहता है तथा वह ईंधन न रहते हुए भी अधिकाधिक प्रज्वलित होता है । जब कुछ थोडासा विषयभोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की चांह होती है । उतना भी मिल जाता है तब उससे भी अधिक की तृष्णा बढती है । यहांतक कि चक्रवर्तीकी संपत्ति मिल जानेपर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्योंको संतोष नहीं होता । वे चांहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीवमात्रको असंभव हैं उनकी प्राप्ति हमें हो । ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्तिमें मरतक जाते हैं । जिनके पास कि विषयभोग हैं ही नहीं उनकी दुःखित स्थिति तो जग जाहिर है । दूसरी बात यों भी है कि जो धनवान् हैं वे धनके रक्षणमें निरंतर दुःखी बने रहते हैं; उन्हें सदा धनकी सब तरहसे रक्षा करनेमें ही दिनरात बिताना पडता है । चोर, डाकू, ईत, भीत, राजा, भागीदार बंधु, अग्नि, अडोसी पडोसी आदि सभी धनके भक्षकोंसे उन्हें रक्षा करनी पडती है । जो कि निर्धन हैं वे धन नया कमानेमें सदा व्यग्र बने रहते हैं; उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता सल्यकी तरह सदा चुभा करती है । किसीने ठीक कहा है "धन हि विना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान् । कोई सुखी न जगतमें सब जग देखा छान" ।

मोहको तीव्र निद्रारूप सिद्ध करते हैं :--

किं मर्माण्यभिदन्न भीकरतरो दुष्कर्मगर्मुद्गरः,
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहाश्रिरम् ।
किं गर्जद्यमतूर्यभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयन्,
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥५७॥

अर्थः—अत्यंत भयंकर इस पापकर्मने मुद्गरकी तरह जीवके मर्मोंको क्या विदीर्ण नहीं किया है? विस्तृत अग्नि-ज्वालाओंकी तरह दुःखपरंपराने जीवके शरीरको क्या जला नहीं डाला है? गर्जते हुए यमराजके वादित्रोंका भयंकर घोर शब्द, इस जीवके सुननेमें क्या कभी नहीं आया है? जिससे कि यह जगद्वर्ती जीव, मोहजनित अविवेक-रूप दुःखदायक निद्राको विचारकर दूर नहीं करता है। ये सब बातें पाप-वश होतीं हैं। पापवश मुद्गरोंकी तरह जीवके मर्म छेदे भेदे भी जाते हैं, अग्नि के तुल्य अनेक दुःखोंसे जीवका शरीर दग्ध भी होता ही रहता है और जो निरंतर जीवोंके मरणका शब्द सुननेमें आता है वही यमराजकी तुरईका घोर शब्द है, जो कि निरंतर बजता हुआ बचे हुए जीवोंको यह सुनाता है कि तुम्हें भी यहांसे चाहें जब अचानक कभी न कभी विदा होना ही पडेगा। ये सब बातें निरंतर बीतती ही रहती हैं तो भी जीव मोहजनित अत्यंत दुःखदायक निद्रामेंसे जागता नहीं है; यह आश्चर्यकी बात है। मर्मस्थानपर कुछ ताडना होनेसे, अग्निका संताप लगनेसे अथवा वादित्रोंकी घोर ध्वनि होनेपर मनुष्यकी निद्रा हट जाती है। परंतु मोहजनित अविवेक-निद्रा, ये सब कारण मिलते हुए भी हटती नहीं है इसलिये यह निद्रा सबसे बडी निद्रा है, और इसका दूर होना ही सच्चा जागना है।

मोहनिद्राके वश होनेसे असार संसारसे रति उत्पन्न होना दिखाते हैं:—

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,

---

१ 'तूर' शब्द भी मिलता है।

व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम् ।

निद्राविश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,

जन्मिन् जन्मानि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ॥५८॥

अर्थः—शरीर जो कि सर्व दुःखोंका निदान है, उसके साथ तेरा अनादिकालसे लेकर नियत संबंध हो रहा है। एक छूटता है तो दूसरा आजुडता है, दूसरा छूटता है तो तीसरा आबँधता है। उससे आजतक तेरा कभी भी छुटकारा नहीं हुआ। उस शरीर के रहनेसे ही अशुभ जो पापकर्म हैं उनके परिपाकका फल तुझे सदा भोगना पडता है। यदि शरीर न हो तो सुख दुःखका अनुभव कौन करे? असाता वेदनीयका उदय होनेपर जो अनेक तरह की आधि–व्याधियां आती हैं वे सब शरीर के होनेसे ही आती जान पडती हैं। शरीर न हो तो कांटा कहां चुभै? फोडे, सीतला, ज्वर, खासी आदि रोग कहां हों? कारागृह आदि के बंधन किसको हों? वातपित्तके विकारसे उत्पन्न हुए क्षुधातृषादि रोग किसको हों? क्या ये सब दुःख शरीरके विना अमूर्त आत्माको हो सकते हैं? कभी नहीं, इसलिये सर्व दुःखोंके भोगनेका निदान शरीर है। शरीर के होनेसे मूर्तिमान् होजानेबाले जीवके प्रदेशोंमें निरंतर सर्व कर्मोंका गाढ बंधन होता है। यही यहां उद्योग है और वह निरंतर ही चलता रहता है। जबतक जीवके साथ शरीरका संबंध है तबतक कर्मबंधन कभी बँधनेसे रुकने बाला नहीं है। अत्यंत श्रम करके जब थकावट आजाती है तब विश्रामके लिये निद्रा लेकर अचेत पड जाता है, मरनेसे सदा डरता है तो भी मरण अवश्य आता ही है। अरे जीव, तेरे जीवनमें ये सब व्यथाएं लग ही रही हैं परंतु तू तो भी उन शरीरादिकोंसे ही प्रीति करता है। विषयोंको सुखसाधक समझकर निःशंक होकर उनमें रमता है। इनको दुःखके कारण समझता हुआ भी इनमें लीन होता है, यह बडा आश्चर्य है!

शरीर एक जेलखाना है । देखोः—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-,
श्चर्माच्छादितमस्त्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं,
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९ ॥

अर्थः—अरे मूर्ख, तू इस शरीरमें वृथा क्यों आसक्त हो रहा है? इस शरीरको तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बडे बडे पत्थर सैतीर वगैरह लगकर बनता है, यह शरीर हड्डियोंसे बना हुआ है। जेलखाना लोह पत्थर आदिके परकोटेसे घिरा हुआ होता है, यह शरीर शिरा स्नायुओंसे जकडा हुआ है । जेलखाना भी, कैदी लोग कहींसे निकल न जांय इसके लिये सब तरफसे ढका हुआ होता है, यह शरीर भी चमडेसे ढका हुआ है । जेलखानेमें जहां तहां कैदियोंके आघातसे रुधिर मांस दृष्टिगोचर होता है परंतु शरीरके भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है । कैदी कहीं भाग न जांय इसकेलिये जेल-खानेके आसपास, जेलके स्वामीकी तरफसे दुष्ट क्रूर मनुष्य पहरा दिया करते हैं, इसी प्रकार इस शरीरमें भी दुष्ट कर्मशत्रुओंका पहरा लगा रहता है । जेलखानेमें जगह जगह दरवाजोंके बीचमें अर्गलकी लकडी लगी रहती हैं कि जिससे कैदी बाहिर न निकल जांय, यहांपर जीवरूप कैदीको रोकनेकेलिले आयूरूप मजबूत अर्गल लगा रहता है । जबतक आयु-अर्गल हटता नहीं है तबतक जीवरूप कैदी शरीरमेंसे बाहिर नहीं निकल सकता है । जब कि ऐसा है तो शरीर और जेलखानेमें क्या अंतर है? कुछ भी नहीं। अरे,जेलखानेसे तो तू इतना डरता है कि, दिन दो दिन वहां रहना भी तुझे कष्ट जान पडता है; और तू निरंतर विचार करता होगा कि इस कष्टसे कब छूटूंगा, अथवा उसमें कभी भी जाना न पडे । परंतु इस शरीर-जेलका तो यह हाल है कि एकसे छुटकारा हो तो दूसरेमें चलाजाना पडता है, दूसरेसे निकला तो तीसरेमें घुसना पडता

है। अनादि कालसे लेकर आजतक तेरा इससे कभी क्षणभरके लिये भी छुटकारा नहीं हुआ। तो भी तूं इसके बंधनसे डरता नहीं है, यह आश्चर्यकी बात है। अथवा इससे जान पडता है कि तू पूरा अज्ञानी है, तुझे कुछ भी हिताहितकी समझ नहीं है।

शरीरके समान ही घर कुटुंबादिक भी दुःखदायक हैं। देखः—

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्,
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः॥ ६०॥

अर्थः—शरण नाम घरका है परंतु वह तेरा असली शरण नहीं हो सकता, क्योंकि घरके भीतरसे भी जीवको मृत्यु छोडता नहीं है। बंधुजन भी सर्व पापकर्मका बंधन होनेके लिये कारण हैं, क्योंकि, बंधुजनोंके प्रेमवश होकर जीव अनेक कुकर्म करता है। जिसका चिरकालसे परिचय हो रहा है ऐसी अपनी स्त्रीको तू सुखका साधन समझता होगा परंतु उसे भी तू विपत्तियोंमें प्रवेश करानेका द्वार ही समझ। पुत्रोंको तू अपना सहायक समझता होगा परंतु वे जन्मसे ही माताका यौवन नष्ट करदेते हैं, बाल्यावस्थामें मातापिताको अनेक कष्ट देते हैं। उनके लालनकेलिये अनेक कुकर्म करके भी धन कमाया जाता है जिसे कि वे यों ही खोदेते हैं। दुष्ट होनेपर आगे वे मातापिताकी कीर्तिको मलिन करते हैं। बहुतसे कुपुत्र जीतेजी भी मातापिताको अनेक कष्ट देते हैं। इसलिये ये साक्षात् शत्रु हैं। इनसे बडा शत्रु और कौन होगा? इस प्रकार विचार करनेपर ये सभी चीजें दुःखके ही कारण जान पडती हैं। इसलिये जिन्हें सुखी बनना हो उन्हें चाहिये कि वे इन सभीका संबंध तोडकर एक निर्मल धर्मसे प्रीति करैं।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः,
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः।

किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा,
देहिन् याहि सुखाय ते सममम् मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

अर्थः—अरे मित्र, जैसे सूखा ईंधन पडनेसे अग्नि बहुत ही जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार आशारूप अग्निको प्रज्वलित करनेमें धन, ईंधनका काम देता है। जब कि धनसे दुःखका कारण असंतोष बढता है तो वह किस कामका है? उससे सुख कैसे मिलसकता है? जो निरंतर अशुभ कृत्यमें भिडाने बाले तथा अशुभ कर्मका बंध जिनके योगसे होता हो ऐसे संबंधी तथा बन्धु-जनोंका संबन्ध भी किस कामका है? मोहरूप सर्पके बडे भारी बिलसमान इस देहसे तथा गेहसे भी क्या प्रयोजन है कि जिसमें प्रवेश करनेसे मोहरूप सर्प अवश्य डसले, और फिर उसके विषका फल नरक निगोदादि खोटी गतियोंमें पडकर अनंत कालतक भोगना पडै। अरे जीव, तू निश्चय समझ, ये सर्व दुःखके ही कारण हैं। इसीलिये तू इनमें वृथा फसै मत—इनमें राग द्वेष मत कर। किंतु इन पर वस्तुओंमेंसे राग द्वेष दूर करके समता धारण कर; तभी तुझै सुख प्राप्त होगा। सारांश, जीवके सुखका कारण सब अवस्थाओंमें संतोष, समता ही है; और जहां जहां राग द्वेषका प्रादुर्भाव है वहीं वहीं दुःख है।

लक्ष्मीकी अस्थिरताः—

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं,
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति,
प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काऽऽशा नृणाम् ॥६२॥

अर्थः—पहले भी चक्रवर्ती आदि राजाओंने महाबली वीर पुरुषोंके मस्तकपर पट्ट बांधकर इस लक्ष्मीको पट्टबंधके बहानेसे रोकना चांहा, रक्षाधिकारी पुरुषोंको रखकर उनकी भुजाओंमें पडी हुई जो तलवारें वे ही हुए पींजडे, उनमें रोककर रखना चांहा, बडे बडे सामन्तोंके द्वारा उसकी रक्षा कराई, परंतु वह क्या रुक सकती है? शिरके

ऊपर इधर उधरसे ढुलने वाली चौरियोंके वायुवेगसे कंपित होकर ही क्या वह लक्ष्मी मनुष्योंके देखते देखते दीप-शिखाके समान विलीन होगई। जब कि ऐसे यत्नसे रखते हुए राजाओंकी लक्ष्मी भी ठहर नं सकी तो छोटे-मोठे लोगोंके पास उसके रहजानेका क्या भरोसा है ?

राजाओंके दरवारमें जो प्रधान योद्धा होते हैं उनके शिरपर एक उत्तम बहुमूल्य वस्त्र बँधाया जाता है उसका अर्थ यही समझा जाता है कि अमुक पट्टधारी मनुष्य राजाके दरवारमें महापराक्रमी है, सेनाका नायक है, राज दरवारमें इसकी वीरताकी बडी प्रतिष्ठा है। पट्टबंधकी क्रिया-परसे कविने कल्पना की है कि वह पट्ट राजलक्ष्मीको स्थिर राखनेके-लिये बंधाया जाता है। भावार्थ इतना ही है, कि बडे बडे पट्टधारी योद्धा जिसकी रक्षा करते हैं वह भी लक्ष्मी ठहरती नहीं है, कभी न कभी निकल ही जाती है। खजानोंमें इकट्ठी हुई लक्ष्मीको पहरेदार योद्धा संभालकर रखते ही हैं, दिनरात तलवारें लिये उसका पहरा देते ही रहते हैं, वह लक्ष्मी उनके हाथोंकी तलवारोंके कठोर पींजडोंमें रोक कर रक्खी जाती है तो भी चिरकालतक ठहरती नहीं है। जो कि पहले राजालोग होगये उनमेंसे किसीकी भी लक्ष्मी आजतक ठहरी नहीं दीखती।

जिस शरीरमें राजलक्ष्मीका पट्ट बांधा जाता है वह शरीर कैसा है:—

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत्।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥ ६३ ॥

अर्थः—दोनो छोकोंपर जिसमें आग लग गई हो ऐसी पोली लकडीके बीचमें बैठा हुआ कीडा जिस तरह तल मल करता हुआ उसीमें जलकर मर जाता है, वहांसे निकल भी नहीं सकता है और कुछ बचनेका उपाय भी नहीं कर सकता है। अरे, उसी प्रकार तू भी जिस शरीरके प्रथम और पीछे जन्म-मरणरूप दुर्निवार आग लग रही है, अवश्य ही उस शरीरमें वेदना सहता है, जन्ममरणके कष्ट भोगता है और अनेक तरहके कष्ट बीचमें आनेपर भी वार वार तल-मल करता है।

अंतमें तुझे उसीमें नष्ट होना पडता है। ये सब दुःख, शरीरके होनेसे ही भोगने पडते हैं। यदि शरीर न हो तो जन्म किसका और मरण किसका हो? आत्मा तो अजर अमर है, केवल शरीरकर्मके उदयसे शरीर धारण करनेके लिये जो इधर उधर दौडना पडता है यही तो जन्ममरण है। जब कि शरीरकर्म ही न हो तो शरीर धारण करनेका कष्ट तथा शरीर मिलनेपर बीच बीचके भूख, प्यास आदि अनेक कष्ट क्यों भोगने पडें? तब तो यह आत्मा एक स्थानपर शांत होकर रहने लगे न? इसलिये दुःखोंका जो बीज है वह शरीर ही है। यह शरीर तबतक अवश्य मिलता ही रहेगा जबतक कि विद्यमान शरीरसे ममत्व नहीं छूटेगा। क्योंकि, ममत्व करनेसे नवीन कर्मबंध होता है और उस कर्मका यथासमय उदय होनेपर नवीन नवीन शरीरकी प्राप्ति होती रहती है। इसलिये उपदेश तेरे लिये यह है कि तू इस शरीरको अपना हित साधक मत समझ; इसको अहितकारी समझकर इससे प्रीति छोड जिससे कि नवीन पापकर्मोंका बंध होना रुक जानेपर क्रमसे शरीरका संबंध छूट जाय।

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं,
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन्।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ॥५४॥

अर्थः—अरे, तू नेत्रादि इंद्रियोंका तथा मनका दास बन गया है। ये अपने अपने समस्त विषयोंके लिये जैसे तुझे प्रेरित करती हैं वैसे ही तू कलुषित होकर उन विषयोंको तलास करता हुआ भटकता है और खिन्न होता है। उन्हीं इंद्रियोंके वश होकर अनेक तरहके खोटे काम करके पापोंका संचय भी खूब करता है। परंतु फिर समय पाकर उसके फल तू ही जब भोगता है तब अपनेको दुःखी मानता है। इससे तू इन इंद्रियोंको वश कर। राग-द्वेषको दूर करके सर्व विषयोंको छोड,

तथा अपने आत्माको समझ और आत्मध्यान करके सच्चा सुखी हो, और आत्मीय सुख भोगता हुआ श्रेष्ठ शुद्ध आचरण द्वारा कर्म-मलका सर्वथा नाश करके इस संसारके दुःखसे छूटकर निर्वृत हो। जबतक तू इन बाह्य विषयोंसे उपरत न होगा तुझे कभी सुख शांति प्राप्त नहीं होगी, यह तू निश्चय समझ।

धन सुखका साधन नहीं है। देखोः—

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५॥

अर्थः—जगके जो जीव निर्धन हैं वे तो धन न होनेसे दुःखी हैं और जो धनिक हैं वे तृष्णावश दुःखी हैं। धन न होनेपर गृहका गुजारा न चलनेसे जीव कष्ट पाते हैं-अपनेको महादुःखी समझते हैं। यदि धन हो तो उसको और भी अधिक बढानेकी फिकरमें तथा उसकी साल सँभालकी फिकरमें सदा मग्न रहते हैं। खाना पीना भी समयपर नहीं करते। इसलिये धनिक लोग भी दुःखसे बचे नहीं हैं। इस प्रकार देखनेपर संसारमें सभी दुःखी हो रहे हैं, विचारे सभी जीव दिनरात खेद पारहे हैं। यदि कोई यथार्थ सुखी है तो वह अकेला मुनि ही है, जिसका कि नाम भी सुखी ऐसा शास्त्ररूढ है। इसका कारण यही है कि सुखकी प्राप्तिका समर्थ कारण धन नहीं है किंतु रागद्वेषका अभाव है। इसीलिये जबतक धनादिकके साथ रागद्वेष बडी तीव्रतासे लगरहा है तबतक न धनी ही सुखी होता है, न निर्धन ही। जब कि रागद्वेष हटगया हो तो रंचमात्र भी धन या दूसरा सुख-साधन न रखनेपर भी साधुजन असीम सुखी कहे जाते हैं, और संभव भी ऐसा ही है। इसका कारणः—

परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥६६॥

१ 'परमेकः सुखी सुखी' यह पाठ भी है। 'सुखी' ऐसा नाम संन्यासीका है।

अर्थः—दुःख संसारमें वहीं है कि जहां पराधीनता है और जहां कि स्वाधीनता है वहीं सुख है। अथवा पराधीनता, यही दुःख है और स्वाधीनता, यही सुख है। इंद्रियजनित जितने सुख हैं वे सब पराधीन हैं-विषयाधीन हैं इसलिये उन्हें, दुःख ही समझना चाहिये; क्योंकि, जब विषयको जोडना पडता है तब भी दुःख होता है और जब मिला हुआ विषय समाप्त हो जाता है तब भी दुःख होता है, बीच बीचमें भी बाधा आते रहनेसे सुखका भंग होता रहता है। दूसरी बात यह है कि विषयजन्य उतना सुख नहीं होपाता कि जितना चिंता-जन्य दुःख सदा ही रहता है, और सुख तो कभी कभी होता है। इसीलिये जहां स्वाधीनतामें कायक्लेशादिरूप थोडासा दुःख भी दीखता हो तो भी वह दुःख स्वाधीनतारूप सुखके सामने कुछ नहीं है। एवं पराधीनतारूप महा दुःखके साथ थोडासा सुख भी यदि होता दीखता हो तो भी वह सुख उस पराधीनतारूप कष्टके सामने धूल है। यदि ऐसा न होता तो तपस्वी-जनोंको ही सुखी ऐसा नाम क्यों मिलता? सुखी यह नाम तपस्वियोंका रूढी है, दूसरे किसीको जो सुखी कहा जाता है वह केवल विशेषण या उपचारकी अपेक्षासे कहा जाता है। तपस्वीके अतिरिक्त 'सुखी' ऐसा नाम शब्दशास्त्रोंमें किसीका भी नहीं है।

दो श्लोकोंसे परिचर्यार्थ साधुओंके गुण कहते हैंः—

यदेतत् स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।
मनो मन्दस्यन्दं बहिरपि चिरायातिविमृशन्,
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ॥६७॥

अर्थः—मुनियोंकी महिमाका वर्णन करना अशक्य है। जिनका विहार सदा स्वच्छन्द और विषय कामनारहित है। संसारी जितने जीव हैं वे सब इंद्रियोंके पराधीन हैं, कभी गमन भी करते हैं तो केवल विषयसिद्धिके प्रयोजनके वश। साधुओंका भोजन दीनतारहित होता है।

वे कभी भोजनकी याचना नहीं करते। किसी श्रद्धालु गृहस्थने भक्तिपुरस्सर प्रार्थना करके दिया तो लेते हैं। नहीं तो भोजनके विना भी अपने चित्तमें खेद नहीं करते। पहलेकी तरह ही उनका परिणाम भोजन न मिलनेपर भी प्रसन्न तथा संतुष्ट रहता है। परंतु संसारी जीवोंकी यह बात नहीं है। इनका भोजन एक तो पराधीन है इसलिये दीनता धारण किये विना नहीं मिलता दूसरे, संतोष–रहित है। निर्धनको तो पराया आसरा भोजनकेलिये सदा ही करना पडता है, याचना भी करनी पडती है, जितना मिलता है उससे संतोष नहीं होता है। जो कि धनिक हैं उन्हें भी पूर्ण भोग–सामग्री न रहनेसे दुःख ही बना रहता है। सामग्रीका पूर्ण इच्छित मिलना किसीको भी संभव नहीं होता, यह बात सभीके अनुभवगोचर है। मुनियोंको सहवास सदा उत्कृष्ट श्रावक अथवा मुनि ऐसे आर्यपुरुषोंका ही रहता है जो कि संसारी जीवोंको मिलना बहुतेक दुस्साध्य है। संसारी जनोंका व्यसन अनेक खोटे कामोंमें लगा रहता है किंतु मुनियोंका व्यसन जिनशासनका अभ्यास करना ही है, जिससे कि उनको परमशांत दशा प्रगट होती है। संसारी जीव यदि शास्त्रका भी अभ्यास करैं तो उस अभ्याससे अहंकार बढता है, शांत दशा प्रगट नहीं होती। साधुओंके मनका वेग अत्यंत मंद हो जाता है जहां कि संसारियोंका मन चंचल बना रहता है। अध्यात्म विचार करते करते साधुओंका मन यदि बाह्य विषयोंमें भी कदाचित् आता है तो वह भी उत्तम कामोंमें आकर लगता है, नकि निकृष्ट कामोंमें। संसारी जनोंका मन अध्यात्म चिंतवनमें तो लगता ही नहीं है किंतु बाहिर भी लगता है वह खोटे विचारोंमें ही सदा आसक्त रहता है। हम नहीं कह सकते हैं कि मुनि–जनोंकी उत्कृष्ट लोकोत्तर परिणति होना, यह किस तपश्चर्याका फल है? अथवा ऐसे कौन साधु होंगे कि जिनको उत्कृष्ट तपका यह फल प्रगट हुआ

होगा ? भावार्थ, ऐसे विरले हैं परंतु सच्चे साधु वे ही हैं। जो अपनेको साधु बताकर लोगोंको ठगते हैं वे साधु न समझने चाहिये।

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा,
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो,
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः॥ ६८॥

अर्थः—उन महात्मा साधुओंकी हम कहांतक प्रशंसा करैं कि जिनमें संसारसे वैराग्य ओतप्रोत सदा भरा ही रहता है, निरंतर जो शास्त्रोंका ही चिंतन करनेबाले हैं, जिनका मन सदा करुणासे पूरित रहता है-जीवोंका कल्याण किस तरह हो, जीव सांसारिक दुःखोंसे कब और कैसे मुक्त हों यही विचार जिनके अंतःकरणमें सदा जारी रहता है, जिनका ज्ञान, एकान्त दुराग्रह अथवा विपरीत ज्ञानरूप सघन अंधकारका नाश करता है, मरण-समय जो समाधि धारण करते हैं अर्थात् भोजनादि बाह्य सामग्रीको त्याग तथा भीतरी रागद्वेषको कृष करके जो शास्त्रानुसार आत्माके स्वरूप चिंतनमें लीन होते हैं। ऐसी परिणति होना यह छोटे मोठे तपश्चरणका फल नहीं है। ऐसी परिणति महापुषोंकी ही हो सकती है। दीन पुरुष ऐसी आत्मोन्नति कहांसे कर सकते हैं ? जो कि थोडेसे विघ्नसे ही चलायमान हो जाते हैं उनसे वह सर्वोत्कृष्ट तपकी आराधना कैसे हो सकती है ? एवं जो कि निरंतर विषयवासनामें लीन रहते हैं, शास्त्राभ्याससे पराङ्मुख रहते हैं जिनके चित्तमें करुणाका नाम भी नहीं है, एकान्त विपरीत श्रद्धाको जिन्होंने अपने अन्तःकरणमें स्थान देरक्खा है, मरते मरते भी जिनसे भोजनादि विषयवासना छूटती नहीं है ऐसे दीन जन क्या ऐसी आत्मोन्नति कर सकते हैं ? कभी नहीं। संसारवर्ती जीव भी कुछ थोडीसी धर्मवासना पाकर अपनी परिणतिको सुधारते हैं; अनन्तानुबंधी तीव्र कषायोंका उपशम तथा क्षय करके विषयवासनाको कृष करते हैं, तथा एकदेश व्रत

धारण करके विषयवासनाको और भी अधिक कम करते हैं परंतु तो भी क्या साधुओंके पदको पासकते हैं ? कभी नहीं ।

तपश्चरणादि कायक्लेश सहकर कष्ट क्यों भोगें ? धर्मके साधनभूत शरीरकी तो रक्षा करना ही उचित है। इसका उत्तरः—

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोयं तवाग्रहः ॥ ६९ ॥

अर्थः—अरे जीव, यह शरीर क्या रह सकता है ? कोटि यत्न इसकी रक्षाकेलिये किये जांय तो भी यह शरीर इधर उधरसे विशीर्ण ही होता रहता है, एक दिन संपूर्ण ही नष्ट हो जाता है। तू इसकी स्वयं रक्षा कर या दूसरोंसे करा, परंतु यह कभी नहीं रहेगा। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य कभी न कभी नष्ट होगा ही यह न्याय तुझे क्या मालूम नहीं है ? फिर क्यों तेरा यह आग्रह है कि इसे मैं संभालकर रक्खूं, कभी भी नष्ट न होने दूं ?

तो फिर क्या करनाः—

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥ ७० ॥

अर्थः—अरे, बुद्धिमानी तो तेरी इस बातमें है कि आयु-कायादिक जब कि अवश्य नष्ट होनेबाले हैं तो जबतक वे तुझे छोडने न पावें तभी तक तू उनसे प्रीति हटाकर शाश्वत पदको प्राप्त करले। क्योंकि तू उनसे विरक्त हो या मत हो परंतु वे तो एक दिन तुझे अवश्य ही छोडेंगे। हाँ, तू उन्हें यदि पहलेसे स्वतः छोडदेगा तो राग-द्वेषजन्य कर्म-बंध न होकर अविनाशी पद तुझे मिल जायगा और यदि वे तुझे पहलेसे छोड जांयगे तो रागद्वेषजन्य तीव्र पापका बंध होनेसे तुझे संसारके दुःख-दायक भवोंमे रुलना पडेगा। पर जो शरीरादिक तुझे अभी मिले हैं वे शाश्वत रहने बाले कभी नहीं है यह तू निश्चय समझ; क्योंकि आजतक किसी दूसरे मनुष्यके शरीरादिक भी शाश्वत रहे हैं, जो कि तेरे भी शाश्वत

रहेंगे? जब कि ये अवश्य नष्ट होने ही वाले हैं तो तू उनसे पहलेसे नेह छोड कर यदि शाश्वत पदकी प्राप्ति करले तो तेरी बुद्धिमानी है और तब तू ऐसा समझना कि यह पद मुझे सहज यों ही मिलगया। क्योंकि उस पदके प्राप्त होनेमें तेरा गांठका क्या लग जायगा? तपश्चरणादि द्वारा जो शरीर विशीर्ण होगा वह वैसे भी विशीर्ण तो होने ही वाला था।

आयु-कायादिकोंका नश्वर स्वभाव दो श्लोकों द्वारा दिखाते हैं:-

गन्तुमुच्छ्वासनिश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम्।
लोकः पृथागितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम्॥७१॥

अर्थः—जो श्वास निरंतर आते जाते हैं उनके द्वारा यह आत्मा तो यहांसे निकल जानेका निरंतर अभ्यास कर रहा है परंतु मनुष्य इससे एक उलटा ही संकल्प बांधता रहता है कि मैं कभी यहांसे मरूंगा ही नहीं, मेरा आत्मा अजर अमर है। अरे, क्या तुझे यह नहीं दीखता कि आयुके अंश श्वासोच्छ्वासके मिषसे निरंतर कम हो रहे हैं, और इसी तरहका अभ्यास करते करते एक दिन यह आत्मा सभी निकल जायगा। अथवा कितने ही अज्ञानी तापस कुंभक आदि योग साधन यह समझकर करते हैं कि हम अजरामर हो जांयगे-इसी शरीरमें सदा बने रहेंगे। पर वे यह नहीं समझते कि हम कुंभकके द्वारा जिन प्राणोंको वार वार अपने भीतर भरते हैं वे ही वार वार रेचक योगसे बाहिर निकल जानेका अभ्यास कर रहे हैं। जब कि ऐसा है तो तू अपनेको अजरामर क्यों समझ रहा है? क्यों आगेके भवोंका सुधार करनेकी तुझे चिंता नहीं है? और भी:—

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं,
खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः॥७२॥

अर्थः—आयुष्य तो निरन्तर थोडा थोडा होकर क्षीण होता ही है परंतु यह दुष्ट शरीर भी आयुके साथ ही साथ क्षीण होता जाता है। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर ये दोनो ही सर्वथा नष्ट होजाने बाले हैं। जिन इन दोनो आयुकायका ही यह हाल है जो कि जीवनेके खास आधार हैं तो प्रत्यक्ष जुदे दीखने बाले स्त्रीपुत्रादिकी क्या बात है? अर्थात् जब कि जीवके साथ घनिष्ट संबंध रखने बाले ये दोनो ही स्थिर नहीं हैं तो स्त्रीपुत्रादि जो जीवसे प्रत्यक्ष जुदे दीख रहे हैं वे कैसे चिरकालतक स्थिर रह सकते हैं? उनकी स्थिति पूर्ण होनेपर बे भी अवश्य तुझसे जुद होंगे। ऐसी अवस्थामें तेरी यह समझ कि मैं कभी न मरूंगा, ठीक उसीके समान है कि जो मूर्ख चलती हुई नौकामें वैठा हुआ भ्रमसे अपनेको यह समझ रहा हो कि मैं स्थिर बैठा हुआ हूं। यद्यपि उसे नौकामें बैठे हुए चाहें यह भान प्रत्यक्षसे न हो कि मैं चल रहा हूं, तो भी उसका चलना अवश्य सिद्ध हैं। उसी प्रकार उत्पन्न हुए जीवका मरना भी अवश्य सिद्ध है।

इसके समझनेके लिये बहुत ही सुगम अनुमान है। देखो, जिस कुएका पानी अरहट यंत्रके द्वारा थोडा थोडा बाहिर निकलता रहेगा वह क्यों न कम होगा? इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास द्वारा जिसका आयुष्य निरंतर बाहिर चला जाता है उसका आयुष्य क्यों न घटेगा? अवश्य घटेगा ही। एवं जिसमें हानि निरंतर होते हुए भी कुछ बढवारी न हो तो उसका कभी न कभी सर्वथा निश्शेष होना भी संभव ही है। कुएका जल जब बढनेसे रुक जाता है तब जरूर नष्ट भी हो जाता है। आयु भी जो जन्मसे पहले निश्चित हो जाता है उसमें बढवारी कुछ होनेवाली नहीं है। फिर जो आयु निरंतर श्वासोच्छ्वास द्वारा घट रहा है वह कभी क्यों न नष्ट होगा? अथवा नौकामें बैठा हुआ मनुष्य चाहे स्वयं गमन नहीं करता तो भी उसकी आश्रयभूत नौका जब कि विना रोक टोक चली जा

रही है तो वह उसीमें बैठा रहकर क्यों न दूसरी जगह पहुचेगा? इसी प्रकार जिसके आधाररूप आयु-काय निरंतर क्षीण हो रहे हैं वह चाहें थोडा भी इधर उधर होना न चाहें पर उसके आधारका जब सर्वथा क्षय हो जायगा तब वह कहां रह सकता है? उसका मरण भी अवश्य होगा-इस गतिसे दूसरी गतिको प्राप्त अवश्य होगा।

अब यह दिखाते हैं कि जीते या मरते सुख कभी नहीं है:—

उच्छ्वासखेदजन्यत्वाद्दुःखमेवात्र जीवितम्।

तद्विरामे भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥७३॥

अर्थः—अरे भाई, जबतक उच्छ्वास है, जीना भी तभीतक है। परंतु श्वास लेनेमें निरंतर कष्ट होता है तो फिर जीना भी दुःखदायक ही हुआ, जीनेमें सुख कैसा? जब कि खेदकारी उच्छ्वास खतम हो जाय तो जीना नहीं हो सकता है, फिर तो मरण ही हागा। उस मरणमें भी सुख नहीं मिल सकता है; क्योंकि, जहां सुखभोक्ता जीव ही नहीं है वहां सुख कैसा और किसको? अथवा मरनेको तो तू स्वयं ही दुःखमय मानता है। जब कि मरण होता है तब वेदना भी जीवको प्राय इतनी होती है कि जिसका वर्णन करना भी कठिन है। जब कि जीवोंको जीते हुए भी सुख नहीं है और मरनेपर भी नहीं है तो कहो, संसारमें सुख कैसा और कहांपर है? सुख है तो एकमात्र शरीरसे स्नेह छोडनेपर है, जिससे कि आगेके लिये शरीरका संबंध ही टूट जाता है। शरीर रहते हुए तो कहीं कभी किसीको भी सुख नहीं है।

जीनेमें सुख होना असंभव और जीनेकी क्षणिकता:—

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।

अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥

अर्थः—जन्मरूप तालवृक्षके ऊपरसे टूटकर जन्तुरूप फल नीचेकी तरफ जो गिर रहे हैं वे मरणरूप-भूमितक न पहुचकर बीचमें कितनी देरतक ठहरेंगे?

भावार्थः--जैसे तालवृक्ष सभी वृक्षोंमें ऊंचा वृक्ष है परंतु उससे भी टूटकर नीचे पडते हुए उसके फल बीचमें कितनी देरतक ठहरते हैं? बहुत ही शीघ्र वे भूमिपर आपडते हैं। इसी प्रकार गर्भावतारसे लेकर उत्पत्ति पर्यंतकी अवस्था हुई तालवृक्ष और मरण हुआ नीचेकी भूमि, एवं उत्पन्न होकर मरणप्राप्तिसे पहले तक बीचकी जो अवस्था है वह हुआ अंतराल। ऐसी अवस्थामें जीवका जन्म लेनेके अनन्तर अन्तरालमें रहना कितनी देरतक हो सकता है? बहुत ही थोडी देरमें वह मरण-भूमितक पहुच जायगा। संभव भी यही है। जीवके जीनेका कुछ भी ठिकाना नहीं रहता है। चाहें जब उसका मरण हो सकता है। प्रथम तो किसीको यही बात मालूम नहीं रहती कि मेरा या किसीका भी आयुष्य कबतकका है? किसीका आयुष्य यदि अधिक भी हुआ तो भी बीचमें अनेक कारणोंसे क्षीण हो जानेकी संभावना रहती है जिससे कि छोटी भी अवस्थामें मरण हो जाना संभव है। विरला ही कोई ऐसा जीव होता है कि जो पूर्ण आयुष्य भोगकर मरता हो, नहीं तो सभीका आयुष्य कुछ न कुछ क्षीण होता ही है। चिंता रोग आदि आधिव्याधियां सभी जीवोंको लगी रहती हैं जो कि आयुःक्षयके खास कारण हैं। देखते भी हैं कि बहुतसे जीव जन्म लेकर बहुत ही जल्दी जल्दी मर जाते हैं, बडी अवस्थातक बहुत ही थोडे मनुष्य जीते जागते रहते हैं। इसीलिये इस जीवनको अंतरालकी उपमा दी है। इस प्रकार जीवनको क्षणभंगुर समझकर थोडेसे सुखाभासके लोभसे असली आत्महितका साधन छोडना नहीं चाहिये, जिससे कि अविनश्वर स्वाधीन सुख प्राप्त हो सकता है, और जहांसे फिर मरना नहीं है।

मनुष्यकी रक्षाका होना असंभव है। देखोः-

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः,
परिवृतमतः खेनाधस्तात् खलासुरनारकान्।

उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा,
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः ॥७५॥

अर्थः—ईश्वरके सृष्टि-कार्य करनेमें मंत्रीका काम देनेबाला जो विधाता, उसने मनुष्योंको निर्बल समझकर अनेक प्रकारसे उनकी रक्षा करना चांहा। जहां मनुष्योंको रहना था उसके आस पास तो असंख्यातों द्वीप समुद्र, खाई कोटोंकी जगह तयार कराये, उनके भी आगे सबके बाहिर बीस बीस हज्जार योजन मोठे बातबलयोंके तीन कोट तयार कराये, और उनके भी आगे सर्व व्यापक आकाशको रक्खा। इतने कोट खाइयोंके बीच मनुष्योंको रक्खा। ऊपर नीचेकी भी रक्षा करना उसने छोडा नहीं। नीचेकी तरफ तो दुष्ट स्वभाव बाले क्रूर असुर तथा नारकियोंको बसाया और ऊपरकी तरफ देवोंका वास कराया। निरंतर मनुष्योंकी रक्षा होनेके लिये मनुष्योंमेंसे ही बलबानोंको राजा बनाया। परंतु मनुष्योंके स्वामी राजा भी उनकी रक्षा नहीं करसके और खाई कोट आदिसे भी उनकी रक्षा नहीं हुई। जब कि सर्वतोबली यम आकर मनुष्यको पकडलेता है तब उसका रोकना सर्वथा असाध्य हो जाता है।

परंतु वह यम करता क्या है? जीवको तो नष्ट कर ही नहीं सकता है, केवल उस जीवका पुराने शरीरसे वियोग करा देता है। तो भी शरीर तो नवीन मिल जाता है परंतु पहिला शरीर छोडनेमें जीवको बहुतसे कष्ट अवश्य होते हैं और जिन वस्तुओंके साथ इष्ट मानकर प्रीति उत्पन्न हुई है उन वस्तुओंका वियोग होनेसे अत्यंत कष्ट होता है। इसीलिये जब कि शरीरकी रक्षा होना असाध्य है और यहां की सभी वस्तुओंसे वियोग अवश्य होने बाला है तो फिर इधर प्रीति करना पूरी मूर्खता है। प्रीति आत्मस्वभावके साथ करनी चाहिये जो सदा शाश्वत होनेसे कभी अपनेसे जुदा होने बाला नहीं है। ऐसा करनेसे आगामी नवीन शरीर धारण करना नहीं पडेगा जिससे कि बार बार ऐसे दुःख

भोगनेकी वारी आया करै। क्योंकि, पर वस्तुओंमें रागद्वेष होनेके कारण विभाव परिणाम होनेसे जो शरीरजनक पापकर्म बँधता है वह जीवकी परिस्थिति स्वाभाविक रहनेपर नहीं बँधेगा। जब कि शरीरका बीज ही नहीं रहेगा तो नवीन शरीरका अंकुर किस तरह प्रगट होगा? इस प्रकार स्वाभाविक परिणति रखनेसे क्रमशः शरीरका अभाव, तज्जन्य दुःखोंका उच्छेद तथा अव्याबाध सुखमय मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

कालकी अनिवार्य गतिका दृष्टान्तः—

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरम्,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥७६॥

अर्थः—पहलेसे जिसका इतना पता भी नहीं लगपाता कि यह कहांपर है, कहां होकर आवेगा; जिसको लोग शरीररहित कहते हैं; दूसरोंको निगल जाता है इसलिये जो पापी है; जिसका देह काला अत्यंत मलिन है। ऐसा दुष्ट राहु, प्रकाशमान उस सूर्यको भी समय पाकर गिल जाता है जो कि सूर्य अपने देदीप्यमान हज्जारो किरणों द्वारा संपूर्ण लोकको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार जिस जीवका भी आयुः-कर्म भोगकर चुक जाता है उसका अंतकाल आजाने पर पापोदय होनेसे ऐसा कोन बलवान् है जो फिर उस जीवको बचा सकता हो? अहा, वह कष्ट अवाच्य है। यह यम भी ठीक राहुके समान ही है, क्योंकि, यह भी शररिरहित अमूर्तिक है, इसके रहनेका भी कोई नियत स्थान नहीं है, यह भी पापी है, मलिन है। जो घातकी हो उसीको लोग मलिन, दुष्ट कहते हैं। इसीलिये कविजन कालका स्वरूप काला, भयंकर, क्रूर, हिंसक वर्णन करते हैं।

कालको ऐसा मानना केवल उपचरित नयके अनुसार है, न कि उसका ऐसा स्वरूप यथार्थ ही है। क्योंकि, काल-द्रव्यके जो दो भेद

हैं उनमेंसे निश्चय-नयाश्रित काल तो द्रव्यस्वरूप है जिसको कि वस्तुओंकी उत्पत्ति तथा विपत्तिमें सीधा सहायक माना ही नहीं जाता है। रहा व्यवहार-नयाधीन काल, परंतु वह भी जान-बूझकर किसीका कर्ता हर्ता नहीं है; क्योंकि, वह जड वस्तु है। जडमें करने हरनेकी कल्पना तात्त्विक विचारसे नितान्त दूर है। वस्तुकी स्थिति उसके बंधनादिकी योग्यतापर रहती है। जैसे एक घडेको यदि खूब ठोंककर मजबूत बनाया या अग्निमें खूब अच्छा पकाया अथवा उसमें कोई आघात जल्दी न लग गया हो तो वह अधिक समयतक ठहरता है, नहीं तो नहीं। इसी प्रकार सभी वस्तुओंकी स्थिति निरनिराले कारणवश हीनाधिक हुआ करती है। इसलिये कालमें कुछ भी समर्थ कारणता नहीं है। यथार्थ देखा जाय तो व्यवहार काल कोई निराली चीज भी तो नहीं है किंतु निश्चय कालके द्वारा उत्पन्न हुई जो वस्तुओंमें निरानिराली स्थिति वही व्यवहार काल कहाता है। उसे कहींपर तो उन उन वस्तुओंका ही पर्याय कहा है और कहीं कहीं पर वस्तु-पर्यायोंकी मर्यादा सूचित करने बाला, परंतु निश्चय कालासंबंधी पर्याय ऐसा कहा है। वस्तुकी स्थितिपूर्ण होनेपर अवश्य ही पलटन होगी। इसी अर्थका भयंकर रूप दिखानेके लिये लोगोंमें यह कल्पना चलगई है कि काल जीवोंको मारता है, उसके आजानेपर जीवको कोई भी बचा नहीं सकता है; इत्यादि, इत्यादि।

दूसरा दृष्टान्तः—

उत्पाद्य मोहमदविभ्रममेव विश्वं, वेधाः स्वयं गतघृणष्ठगवद्यथेष्टम्।
संसारभीकरमहागहनान्तराले, हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥ ७७ ॥

अर्थः—वेधा नाम पूर्वोपार्जित कर्मका है। यह पूरा ठग है। निर्दय ठग जिस तरह लोगोंको मादक वस्तु खिला पिलाकर असावधान

---

१ 'विलसितविधेः' ऐसा भी पाठ है। ऐसा पाठ माननेमें 'विलसितो भुक्तो, विधिरायः कर्म छस्य तस्य पुंसः' अर्थात् भोगकर खतम होगया है आयुकर्म जिसका उस पुरुषका ऐसा नाम बन जाता है।

करके किसी निर्जन स्थानमें माल-टाल लूट-लाटकर मारडालते हैं उसी तरह यह निर्दय विधाता भी संसा ी जनोंको मोहकर्मोदय-जनित राग-द्वेषके द्वारा हिताहित-परीक्षामें असावधान बनाकर, महाभयंकर संसार-बनके बीच आत्मीय धनको लूटकर मारडालता है। जब कि वह मारने लगता है तब किसका सामर्थ्य है कि उससे जीवको बचावे?

जिस निमित्तसे एक पर्यायसे पर्यायान्तर हो जाता है वह निमित्त ही काल है। वर्तमान आयुःकर्मके समाप्त होनेसे तथा आनुपूर्वी आदि कर्मोंके नवीन उदय होनेसे जीवका एक पर्याय बदलकर दूसरा पर्याय उत्पन्न होता है इसलिये दैव या कर्म ही सच्चा काल है। वही इस श्लोकमें कालकी जगह कहा गया है। यह कार्यका कारणमें उपचार किया गया है। काल नाम किसी पर्यायके अन्त समयका है। जीवोंके पर्यायोंका अंत दैवनिमित्त द्वारा होता है इसलिये कारणमें कार्यका आरोपण युक्तिसंगत कहा जा सकता है। इसपरसे यह भी सिद्ध होता है कि जबतक जीवके साथ कर्म लगा हुआ है तबतक कालसे बचना नहीं हो सकता है। सिद्ध भगवान ही कर्मरहित हैं इसलिये वे कालसे भी बचे हुए हैं।

अनियत आजानेवाले कालसे सावधान रहनेका उपदेशः—

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥७८॥

अर्थः—अ े सुज्ञ मनुष्यों, काल तुम्हें छोडने वाला तो है नहीं, आवेगा तो अवश्य ही। फिर तुम यों ही क्यों बैठे हो? अपने कल्याणार्थ यत्न क्यों नहीं करते? वह आनेवाला अवश्य है यह निश्चय होकर भी कब आवेगा, किस तरह आवेगा, कहांसे आवेगा और कहां पर आवेगा यह निश्चय ही नहीं है। कोन जाने, कब आवेगा, किस तरह आवेगा, कहांसे आवेगा, कहांपर आवेगा? ऐसी हालतमें कुछ भी यत्न न करके निश्चिन्त बैठे रहना, अथवा यह विचार करना कि

जब वह आवेगा तभी हम उपाय करेंगे, कितनी बडी भूल है! क्या ठीक उस समय यत्न करनेसे कुछ भी होगा? आग लग जानेपर कुआ खोदना क्या कुछ भी उपयोगी पड सकता है? यत्न भी जो तुम करो वह शरीर रक्षार्थ नहीं, किंतु आगे शरीरका संबंध न रहकर निरतिशय सुखकी प्राप्ति हो इसलिये करो। शरीरकी तो हज्जार रक्षा करनेपर भी वह नहीं रहेगा यह निश्चय हो चुका है। इसलिये,

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कश्चन।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥७९॥

अर्थः—तुम ऐसे एक किसी देशमें जाकर निश्चिंत वास करो जहां मृत्युका कुछ भी संबंध न हो। ऐसा कोई एक काल देखो कि जिसमें मृत्यु न आसकता हो। कोई एक ऐसा ढंग सोधो जिस तरह चलनेसे मृत्यु आक्रमण न करसकै। कोई एक कारण ऐसा मिलाओ कि जिसके अवलम्बनसे मृत्युकी दाद न लगसकती हो। यह सब जब तुम करलो तब तुझें निश्चिंत होना चाहिये। परंतु यह ध्यान रक्खो कि जबतक तुमने शरीरका संबंध छोडा नहीं है तबतक ऐसा देश, काल, विधि तथा हेतु कभी नहीं मिलनेबाला है। ऐसे देशादिक तो तुझें तभी मिलेंगे जब कि तुम शरीरसे स्नेह हटाकर वीतराग होकर अध्यात्म चिंतवन करने लगोगे। क्योंकि, ऐसा संबंध संसारमें तो कहींपर भी नहीं है; एकमात्र है तो संसार छूटकर होनेवाली चिदानंद दशाके प्राप्त होनेपर है। इसलिये शरीररक्षाके प्रयत्नमें लगनेसे तुझारा मृत्युसे छुटकारा होना असंभव है। इसीलिये इस धुनको छोडकर आत्मकल्याण करनेके लिये तुझें यत्न करना चाहिये।

स्त्रीको अनुपसेव्य दिखाते हैं:—

अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा,—
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत्।

कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे,
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥ ८० ॥

अर्थः— स्त्रीमें अमर्यादित आसक्त होनेवाले मनुष्य, क्या आत्म-हितसे वंचित होकर अनेक पाप संचित करके नरकमें नहीं पडेंगे? अवश्य पडेंगे। जब कि ऐसा निश्चित है तो स्त्रीरत मनुष्योंको नरककी घोर आपत्तियोंमें प्रवेश करानेके लिये स्त्रीका शरीर, खुला हुआ बडासा दरवाजा ही समझना चाहिये। इसीलिये अनेक उपकार करनेवाले जीवका भी इससे अपकार ही हुआ कहना चाहिये और मनुष्यके कल्याणको भस्म करनेके लिये इसे प्रखर अग्निज्वाला समझना चाहिये। अरे, यह कलत्रका कलेवर, नीच, पामर, अज्ञानी जनोंको दुर्लभ्य सरीखा जान पडता है। तूं इसका स्वरूप अकल्याणकारी समझकर भी क्यों इससे प्रीति करता है?

पुरुषोंको मुख्य मानकर उनको संबोधकर यह उपदेश दिया गया है किंतु स्त्रीकेलिये जब यह उपदेश समझना हो तब ऐसा अर्थ करना चाहिये कि, स्त्रियां कुत्सित व्यभिचारी पुरुषोंके संबंधसे व्यस-नोंमें आसक्त होकर आत्महितसे वंचित रहती हुई अनेक पाप संचित करके क्या नरकोंमें नहीं पडती? अवश्य पडती हैं, और उनको नरकोंमें पाडनेके निमित्त पुरुष होते हैं। इसलिये वे उन्हें नरकके घोर दुःखोंमें प्रवेश करानेके लिये उघडे हुए विशाल द्वारके समान हैं। एवं पुरु-षोंका कामपूर्ण अंग, स्त्रियोंके समस्त कल्याणको जला डालनेवाला जाज्वल्यमान अग्निस्फुलिंगके समान है। गृहधर्ममें स्त्रियोंके द्वारा पुरु-षोंको जो अनेक उपकार मिलते हैं उनके बदलेमें, वे पापी पुरुष हैं कि जो उनको नरकोंमें डालकर उनका अपकार करनेवाले हैं। कामसेवनके-लिये समर्थ ऐसे पुरुषोंका प्राप्त होना वे ही स्त्रियां दुर्लभ समझती हैं जो नीच, क्षुद्र, अज्ञानपूर्ण हैं। उत्तम स्त्रियोंको वह शरीर कुछ भी अपूर्व अनुपम तथा दुर्लभ नहीं जान पडता है; क्योंकि, पुण्यके उदयसे

उत्तमसे उत्तम पुरुषोंका संबंध होना सहज है तो भी निस्सार होनेसे आदरणीय नहीं है। इसीलिये हे कुलीन भगिनियों, तुम इसमें आसक्त मत हो जिससे कि तुम्हें अनेक भवोंतक नरकादिके घोर दुःख भोगने पडैं।

> व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेप्यभोगोचितं,
> विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
> मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुन,-
> र्निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥ ८१ ॥

अर्थः—ईखके सांठे, आदि अंतमें तो सभी निरुपयोगी ही होते हैं, बीच बीचमें निस्सत्व गांठें भी सभीमें रहती हैं। गांठोंकी जगह अतिशय कठोर तथा नीरस होती है इसलिये वह किसी भी कामकी नहीं होती। रही नीचेकी जड, वह भूमिके भीतर रहनेसे सर्वथा नीरस कठोर होजाती है इसलिये वह भी निरुपयोगी ही है। ऊपरी भागतक तो रस पहुच ही नहीं पाता, वह केवल नीरस नीरसे भरा रहता है इस-लिये उसे भी लोग निरुपयोगी समझकर फेंक ही देते हैं। गांठोंके बीच बीचमें कुछ थोडासा भाग ऐसा होता है कि जो खाया जासकता है। प्रथम तो बुद्धिमान मनुष्यको यह चाहिये कि वह उसे भोग्य होनेपर भी संपूर्ण न भोगकर कुछ बीजकेलिये भी शेष रक्खे, नहीं तो फिर आगे वैसा भोगना कहां मिल सकैगा? परंतु वह सांठा जितना कि भोगने योग्य है उतना भी यदि सडगया हो, कांना पडगया हो तो फिर वह जरासा भी भोगने योग्य नहीं रहता। ऐसी हालतमें यदि कोई मूर्ख मनुष्य उसे खानेकेलिये चीड फाड डालै तो उस मनुष्यको उस सांठेमेंसे कुछ खानेके लायक तो मिल ही नहीं सकता, उलटा यों ही फेंकदेना पडेगा। यदि खाया भी तो जरासा भी मीठा स्वाद न आकर उलटा वह चित्तको ग्लानि उत्पन्न करेगा। इसलिये उसको खानेका उद्योग करनेसे खानेवालेका तो कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होसकता

और वह सांठा यों ही खराव जाता है। ऐसी हालतमें वह मनुष्य बुद्धिमान समझा जायगा कि जो उसे यों ही न खोकर कहींपर बोदे, जिससे कि आगामी बहुतसे अच्छे अच्छे सांटे खानेके लायक उस एक सडे हुए सांठेसे उत्पन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार मनुष्यजीवन भी एक सडे हुए सांठेके तुल्य है। इसमें गांठोंकी तरह तो बीच बीचमें अनेक आपत्तियां आया करती हैं और बुढापा ऊपरी अँगोलेकी तरह सर्वथा नीरस होता ही है, जिसमें कि सर्व इंद्रियां और शक्ति क्षीण हो जानेसे किसी भी भोग्य विषयका सेवन नहीं होपाता है। रही बाल्य अवस्था, वह भी अत्यंत अज्ञानपूर्ण होनेसे सुखसाधक नहीं है। यौवनके सयय जो आपत्तिरूप गांठोंके बीच बीचमें कुछ थोडीसी भोग्य अवस्था है वह भी जब कि क्षुधा, व्रण, फोडे, विशीर्ण होना, कुष्ट रोग होजाना तथा व्रणोंमें सडकर कीडे पडजाना इत्यादि भीषण रोगोंसे व्याप्त है तो उसमें भी रति करनेसे क्या सुख होगा? कुछ भी नहीं। इसीलिये यह मनुष्यभव काने सांठेकी तरह है। जिस तरह सांठेका नाम अच्छा मालूम पडता है परंतु सड जानेपर उस सांठेका स्वरूप बहुत ही बुरा दीखता है इसी तरह मनुष्यभवका भी नाम तो बहुत ही अच्छा है परंतु विचारने पर स्वरूप बहुत ही बुरा दुःखदायक जान पडता है। इसलिये इसको भोगोंमें खिपा देना तो मूर्खता है और इससे तपश्चरणद्वारा आगेके भवको सुधारलेना बुद्धिमानी है।

शरीरकी क्षणिकता पुष्ट करते हैं:—

प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्॥ ८२॥

अर्थः—जब जीव सोजाता है तब तो मराहुआसा दीखा करता है और जाग उठता है तब जीनेकी खूब चेष्टा करने लगता है। ऐसा हाल किसी एक दिनका नहीं है किंतु प्रतिदिन ऐसा

ही हुआ करता है। जो कि इस तरह प्रतिदिन अंत होनेकासा अभ्यास किया करता है वह कहांतक इस शरीरमें ठहरेगा, बहुत ही शीघ्र कभी न कभी सचमुच ही निकल जायगा। अथवा जो सदा ऐसा धोखा देता है उसका कहांतक यह विश्वास किया जा सकता है कि यह कभी सचमुच ही न निकल जायगा? वह तो कभी न कभी अवश्य निकलेगा। इसलिये उसके रहते रहते जो करना हो वह करलेना चाहिये। करना यही है कि विषयसे प्रीति हटाकर तपश्चरणद्वारा परभवका सुधार करलिया जाय। इस प्रकार शरीरसे आत्माके हितकी आशा रखना सर्वथा निर्मूल है।

अब यह विचार करिये कि कुटुंबसे आत्महित होता है या नहीं?

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य,—
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्,
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥ ८३ ॥

अर्थः—अरे जीव, तूं सांच कह, इस जन्मभरमें तुझे बन्धुजनोंसे होने योग्य क्या कुछ थोडासा भी उपकार आजतक कभी मिला है? सच्चा बंधु तो वही कहाता है जो निरंतर कुछ भी उपकार करता रहता हो। हां, इतना उपकार बंधुजनोंसे अवश्य हुआ करता है कि जो जीवको दुःख देनेवाला अतएव जीवका शत्रु था उस शरीरको मरनेके पीछे वे सब मिलकर जलादेते हैं। तेरे भी शरीरको इसी तरह तेरे बंधुजन एक दिन सब मिलकर जलादेंगे। इतना तेरा उपकार उनके हाथसे अवश्य हुआ समझना चाहिये; क्योंकि, जो दुःख देनेवाला शत्रु होता है उस शत्रुसे जो दुःखका कुछ भी बदला ले वही अपना मित्र तथा बंधु समझना चाहिये। परंतु तू यदि यथार्थ विचार करेगा तो तुझे विश्वास होगा कि मेरे जीतेजी बंधुओंने मेरा कभी कुछ भी हित नहीं किया। सभी बंधु अपने अपने मतलबके गरजी हैं। जो तेरे कुछ भी उपकारी नहीं हैं उनके साथ तू क्यों असमान स्नेह करता है?

बंधुजनोंके द्वारा जो विवाहादि उपकार होते हैं उन्हें अपकार सिद्ध करते हैं:-

जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायिनः।
स्वाः[1] परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ ८४ ॥

अर्थः—चिरकालपर्यंत जन्ममरणोंके दुःख देनेवाले अशुभ कर्मोंका संबंध, विवाहादिक रागवर्धक कार्योंके करनेसे होता है। इसलिये जो कुटुंबी जन हित समझकर विवाहादिक कराकर जीवको संसार वासनाओंमें फसाते हैं वे असली वैरी हैं; क्योंकि, उनके उपकार करनेसे जीवको चिरकालतक संसार दुःख भोगने पडेंगे। जो कि एक बार प्राण हरलेते हैं उन वैरियोंको असली वैरी नहीं समझना चाहिये; क्योंकि, एक तो एकवार प्राण हरलेनेमात्रसे उन बंधुजनोंकी बराबर उनका अपराध नहीं होता कि जो बंधुजन, रागभाववर्धक कारण मिलाकर जीवको चिरकालतक दुःखदायक कर्मोंसे बद्ध करादेते हैं, दूसरी यह बात कि जो प्राण हरने वाले हैं वे अपराधी ही नहीं हैं। अपराधी वह होता है जिसने स्वयं कुछ अपराध किया हो। जबतक आयुष्य कर्मकी उदयावली प्रबल है तथा दूसरे भी शुभ कर्मोंका उदय होरहा है तबतक जीवका मारनेवाला कोन है? जब कि आयुकर्म पूर्ण हुआ तब विना मारे भी जीव मरजाता है। इसलिये वेचारे पामर जीवको प्राणघातमें निमित्तमात्र हो जानेसे प्राणहर्ता कहना भूल है। तीसरी बात यह भी है कि जो ऋणको छुडाता है वह ऋण छुडाते समय चाहें दुःखदायक जान पडता हो परंतु असली दुःखदाता नहीं है और जो ऋण कराता है वह उस समय चाहें सुखदायक ही जान पडता हो तो भी उसे दुःखदाता ही कहना चाहिये। जो आयुकर्म पहले बांधलिया है और अब उदयमें आरहा है वह पूरा हुए विना तो दूर हो ही नहीं सकता, परंतु जो कोई उसे शीघ्र ही पूरा करदे उसे

१ 'स्व' नाम अपना, अथवा बंधुजन। 'पर' शब्दका अर्थ शत्रु है।

ऋणमोचक कहना चाहिये। और इसीलिये उसे अपना उपकर्ता समझना चाहिये। जिसने प्राणघात किया हो उसने शेष रहे हुए आयुको तत्काल ही पूरा कराकर उससे जीवको छुटकारा करादिया इसलिये उसे उपकर्ता न कहा जाय तो क्या कहना चाहिये ? हां, जिन बंधुओंने विवाहादि रागद्वेषवर्धक कार्योंमें फसाया उन्होंने पाप-कर्मरूप नवीन ऋणसे जीवको लिप्त किया इसलिये ये बंधुजन अवश्य पूरे शत्रु हैं।

बंधुजन जब कि धनकी मदत करते हैं तो वे सुखके कारण हुए, दुःखके कारण कैसे हो सकते हैं ? इस भ्रमको हटाते हैं:—

रे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे ॥ ८५ ॥

अर्थः—अरे मूर्ख, बहुतसा ईंधन डालकर आप ही अग्निको इधर उधरसे खूब चेताकर उसके बीचमें पडकर जलना कौन पसंद करेगा ? और यदि इस तरह अपने ही हाथसे ईंधन पडकर अग्नि चेत गया हो तथा उसमें फसकर आप स्वयं जलने लगा हो तो भी उस समय अपनेको सुखी कौन मानेगा ? यदि उस समय भी जो सुखी समझरहा हो तो उसके बराबर दूसरा मूर्ख कौन होगा ? कहना चाहिये कि वह पूरा पागल है। इसी तरह जिसने बंधुजनोंकी प्रेरणासे अपनी आशारूप अग्निमें धनरूप ईंधन डालकर उसे खूब प्रदीप्त करलिया हो और उसके बीचमें फसकर आप ही जलने लगा हो, तो भी अज्ञानवश समझता हो कि मैं खूब सुखी होगया, तो उसके बराबर कौन दूसरा मूर्ख होगा ? जब कि धनके बढनेसे तृष्णा, चिंता बढती है तो वह सुखी कैसे कहा जा सकता है। जब कि तृष्णा, चिंता आदि दुःखोंका कारण होनेसे धन सर्वथा दुःखका ही कारण है तो उसके संग्रह करनेमें जो बंधुजन सहायी होते हैं वे सच्चे हितकर्ता बंधु कैसे कहे जा सकते हैं ? सच्चा बंधु तो वही है कि जो तृष्णाके कारणभूत धनसे तृष्णा हटवाकर संतोष तथा स्वाधीन अध्यात्म सुखमें लगावे।

युवावस्थामें विषयसुख भोगकर वृद्धावस्थामें धर्म साधनेकी इच्छा रखने वालेसे कहते हैं:—

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥ ८६ ॥

अर्थ:—बुढापा आनेपर लोगोंके बाल कालेसे सफेद हो जाते हैं, बुद्धिकी सावधानी भी नष्ट हो जाती है । बुद्धिविकासका स्वरूप ठीक सफेद वर्णन किया जा सकता है परंतु वह अदृश्य चीज है इसलिये उस बुद्धिकी सावधानीका निकल जाना, एक चीजको बाहिर प्रगट होते हुए देखकर कविने सिद्ध किया है। इसको कविलोग उत्प्रेक्षा कहते हैं । वह यों कि, अरे मूर्ख, तू समझता होगा कि युवावस्थामें भोगोंको खूब भोगकर भी बुढापेके समय धर्मसेवन करलूंगा जिससे कि परलोकका सुधार होसकता है । परंतु तेरी यह समझ बहुत भूलकी है; क्योंकि बुढापा आजानेपर जो तेरे बाल सफेद पडजाते हैं, उन्हें हम ऐसा समझते हैं कि वे बाल नहीं हैं। तो, इस छलसे तेरी सुध बुध शरीरसे निकल रही है।इसीलिये तो बुढापेमें बुद्धि सावधान नहीं रहती। सावधानी जो बुद्धिकी थी वह जब शरीरसे निकलगई तो सावधानीके रहते हुए जो काम होसकते हैं वे काम फिर कैसे पूरे पडेंगे ? इसीसे तो बुढापा आजानेपर छोटी छोटी बातों तकका स्मरण नहीं रहता, समझ भी उलटी ही हो जाती है। ऐसी हालतमें जब कि ऐहिक छोटी छोटी बातें भी ठीक नही रहसकती तो फिर परलोक संबंधी पूरा लक्ष्य रखकर करने योग्य धर्मकार्य कैसे किये जासकते हैं? करना तो दूर रहा, उन कामोंका स्मरण भी ठीक ठीक कहांसे रहसकता है ? अरे भाई, इसलिये तुझे जो कुछ करना हो उसे इसी समय करले।

विषयमें न फसकर परमार्थप्रवृत्ति करनेवालोंकी दुर्लभता:—

इष्टार्थोद्यदवाप्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर,-
न्नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।

मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे ।
मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरेचरा दुर्लभाः ॥ ८७ ॥

अर्थः—संसार, एक भयंकर विस्तीर्ण समुद्रके समान है। समुद्रमें खारा जल भरा रहता है जिसको यदि कोई भी पीता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती, उलटा दाह बढता है। इसी तरह संसारसमुद्रमें विषयजन्य सुख हैं कि जो क्षणभंगुर होनेसे तथा दुःखपूर्ण होनेसे पीनेवालेकी तृप्ति नहीं करसकते। समुद्रमें जैसे वडवानल अग्नि जलता रहता है जिससे कि समुद्र भीतरसे निरंतर जलाकरता है और स्थिरता नहीं पडती उसी तरह संसारमें मानसिक तीव्र वेदनाएं हैं कि जो निरंतर जाज्वल्यमान रहती हैं जिनसे कि जीवोंका अंतःकरण निरंतर जलाकरता है किंतु शांति क्षणभरके लिये भी नहीं मिलती। समुद्रमें तरंगें निरंतर उठती हैं और विलीन होती हैं; संसारमें भी जन्म-मरण—जरारूप तरंगोंकी माला निरंतर उठती ही रहती है जिससे कि एक क्षणभरके लिये भी स्थिरता नहीं होती। इस गतिसे उसमें, उससे भी और तीसरी गतिमें, इस तरह जीव सदा भ्रमता ही रहता है। समुद्रमें बडे बडे मगर नाके आदि मुख फाडे हुए पडे रहते हैं कि जो किसी भी जंतुको पास आते ही गिल जाते हैं। इस संसारमें भी मोहरूप मगर नाके आदि भयानक जलचर जीव निरंतर मुख फाडे हुए पडे रहते हैं; कोई भी पास आया कि झट गिल जाते हैं। रागद्वेषकी उत्पत्ति निरंतर होती ही रहती है जिससे कि सदा अशुभ कर्मोंसे यह जीव लिप्त होता रहता है। यही मोहग्राहका गिलना है। इस संसार-समुद्रमें रहते हुए भी जो इन मोहग्राहोंसे बचे रहते हैं वे अत्यंत विरल हैं। इस दुःखसागरसे पार होते हैं तो वे ही होते हैं। अरे भव्य, तुझे भी इस संसारसमुद्रमें रहकर इसी तरह बचना चायिये, तभी तेरा बेडा पार होगा।

बचकर भी क्या करना चाहिये:—

अभ्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।
धन्योसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधो मृगीभि–,
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥ ८८ ॥

अर्थः—अन्तराय रहित जो विविध सुख, उनसे जिस शरीरकी लालना हुई हो, सुंदर स्त्रियोंके चंचल रमणीय नेत्रकमलोंसे जिस शरीरका निरंतर सत्कार होता रहा हो, अर्थात् जिसने स्त्रियोंके चंचल नेत्र देखनेमें अपना आजतकका समय गमाया हो, ऐसा तेरा जन्मसे लेकर सुखमें लीन रहा हुआ जो शरीर है वह यदि ज्ञान प्राप्त होकर सच्चे तपश्चरण करनेमें ऐसा लीन हो कि विचरती हुई हरिणी उस शरीरको देखकर जले हुए जंगलका मुरझाया हुआ गुलाव (स्थलकमलिनी) समझकर निर्भय देखने लगजांय, तो मैं तुझे धन्य समझता हूं । भावार्थ, जिस दिन तेरी ऐसी अवस्था होगी तभी मैं तुझे धन्य मानूंगा । जो जन्मसे लेकर दुःखी हैं वे यदि तपश्चरणादि कष्टोंको सहें तो सहज सहसकते हैं; क्योंकि, उन्हें दुःख सहन करनेका अभ्यास हो चुका है। परंतु जो जन्मके सुखी हैं, कभी कष्टका नामतक नहीं सुनते, वे यदि इस उत्तम धर्मको धारण करें तो अधिक महत्वकी बात है । ऐसे मनुष्य विषयसे रहित सच्चे धर्मको तभी धारण कर सकते हैं कि यदि उन्हें सच्चा धर्मसे प्रेम उत्पन्न हो चुका हो ।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशो क्लिश्नासि कृष्यादिभि–,
र्वृद्धो वार्धमृतः क जन्मफलितं[१] धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

---

१ 'जन्मफलिते' ऐसा मूल पाठ मिला था पर जन्मका फलभूत ऐसा 'धर्म'का विशेषण करदेनेसे अर्थ ठीक बैठता है ।

अर्थः—बाल्य अवस्थामें तो पूरा समर्थ न होनेसे तू अपने हिताहितको थोडासा भी समझ नही पाता; किंतु युवावस्थामें जब कि समझने योग्य हुआ तब, जैसे कोई वनमें क्रीडा करता फिरै, तू स्त्रियोंके झुंडमें कामान्ध हुआ विचरने लगता है। यौवन अवस्थाके आगे जब कि बाल बच्चे होगये तब, उस मध्यावस्थामें तृष्णा बढती है जिससे कि खेती या व्यापारादि काम करके धन कमानेकी चिंतासे व्याकुल होता है। उस समय भी तू ठीक पशुओंकी तरह अज्ञानी और भारवाही बन जाता है। अब जब कि बुढापा आगया तो संपूर्ण इंद्रियां शिथिल होगईं; स्मरणशक्ति तथा शरीरशक्ति अतिक्षीण होचली। मनभी उस समय स्थिर विचार नहीं करसकता। इस लिये वह बुढापा क्या है, आधा मरण ही हो चुका समझना चाहिये। अब कहिये, धर्म कब होसकेगा? भावार्थ, विषयासक्त प्राणीका जन्मसे लेकर अंत हुएतक सारा आयुष्य यों ही वीत जाता है, धर्म एक रत्तीभर भी सध नहीं पाता। पर यह खूब ध्यान रक्खो कि, जन्म धारण करनेका निर्मल फल एकमात्र धर्म ही है। इसमें लेशमात्र भी मल- दुःख, संकट नहीं रहते इसीलिये यह धर्म निर्मल माना गया है। इसके विना जन्म लेना सफल नहीं हो सकता।

वर्तमान पर्यायके दुःखः—

बाल्येस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नार्पितं यत्त्वयि।
वार्द्धक्येप्यभिभूय दन्तदलनाद्यंचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते॥ ९०॥

अर्थः—अरे दुर्बुद्धे, बाल्यावस्थामें तुझे अज्ञानी बनाकर जो कुछ दुःख इस कर्मने दिये–जो जो वेहाल किये उनका विचारना भी

१ स्तन्नापितं (प्रापितं) ऐसा पाठ सटीक पुस्तकमें है।
२ 'द्राचेष्टितं' ऐसा पाठ सटीक पुस्तकमें है।

भयानक है। मध्यावस्थामें धन उपार्जनके साधनोंमें फसाकर जो तुझे दुःखी किया वह दुःख भी कुछ कम नहीं, और ऐसा कोई दुःख बचा भी नहीं कि जो तुझे भोगना न पडा हो। बुढापेमें भी तुझे कमजोर समझकर अपमानित किया और तेरे दांत तक तोड दिये; और भी अनेक कठोर कष्ट दिये, वे भी तू देख। फिर भी तू बडा मूर्ख है कि जो उसी कर्मके वश रहकर चलना चाहता है। भावार्थ, यदि किसीसे एक वार भी धोखा होगया हो—किसीने एक वार भी किसीको थोडासा कष्ट दिया हो तो फिर वह प्राणी कभी उसके फंदेमें फसना नहीं चाहता। पर, दुष्ट कर्मने तुझे अनेक वार दुःसह दुःख दिये हैं जो कि बाल्यावस्थासे लेकर बुढापेतक तेने पराधीन होकर भोगे हैं; जिनका कि तू स्मरण भी करता ही होगा। तो भी तू उससे सावधान होकर छुटकारा करलेना नहीं चाहता। इस तेरी मूर्खतापर क्या कहैं?

बुढापेमें इंद्रियादि क्षीण होनेका हेतुः—

अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-,
श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।
भीत्येवाभिमुखान्तकाद्तितरां कायोप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेप्यासे जराजर्जरे ॥ ९१ ॥

अर्थः—बुढापेमें असमर्थ होजानेके कारण जो तुझे दूसरे लोग अनेक अपमान तथा निन्दा जनक शब्द बोलने लगते हैं उन्हें कान सुनना नहीं चाहते इसीलिये शायद वे सुननेके कामसे विरक्त होकर बहरे बन गये हैं। नेत्र भी तेरी निन्दित और दुःखापन्न दशा देखनेकेलिये असमर्थ होकर शायद अंधे बन गये हैं। तेरा शरीर भी सन्मुख आते यमराजको देखकर ही क्या डर गया है जिससे कि अत्यंत कपने लगाहै। यह तेरा शरीर-मंदिर जरा-अग्निसे जर्जरित हो चला है; थोडी ही देरमें जलकर खाक हो जाने वाला है तो भी तू उसमें निश्चिंत बना बैठा है।

भावार्थः—इस शरीरमेंसे प्राणोंके निकल जानेकी शंका तो सदा ही बनी हुई है। बालकसे बूढेतक सभी मरते दीखते हैं। इस लिये आगेके भवकी संभाल करना तो सदा ही चाहिये। पर, बुढापेसे आगे तो अधिक कदापि रह ही नहीं सकता। इसलिये बुढापा आ पहुचने पर परलोककी चिंता सभीको करनी ही चाहिये। यदि कोई प्राणी बुढापा आजानेपर भी निश्चिन्त बैठा रहे तो कहना चाहिये कि वह अग्निसे जलते हुए मकानके भीतर जानता बूझता निश्चिन्त बैठा हुआ है। उसकी मूर्खताका क्या ठिकाना है? जिस बुढापेमें आंखोंकी जोत मंद हो जाती है, कान बहरे हो जाते हैं, शरीर, शक्ति घट जानेसे शिथिल होकर कपने लगता है उस बुढापेका ठहरना क्या चिरकालतक हो सकैगा? नहीं। तो फिर यहांसे छूटकर जहां पहुचना है उसकी चिंता अब भी क्यों नहीं करते? और भी देखः—

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः॥ ९२॥

अर्थः—जीवोंमें यह स्वभाव दीख पडता है कि चिरपरिचित वस्तुओंसे स्नेह घट जाया करता है और नए पदार्थोंमें स्नेह पैदा होता है। पर तू इस कहावतको भी झूठा कर रहा है कि, चिरकालके परिचित होनेपर भी रागद्वेषादि दोषोंसे तेरी प्रीति घटी नहीं और नए प्राप्त हुए या होने बाले सम्यक्त्वादि गुणोंसे प्रीति जुडती नहीं।

भावार्थः—अरे जीव, यदि तू इस कहावतके अनुसार भी चल सकै तो सम्यक्त्वादि नूतन गुणोंकी प्राप्ति तथा वृद्धि होनेसे, एवं चिरकालसे गाढ परिचित हुए राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव होनेसे तेरे परलोकका सुधार हो जाय। क्योंकि, रागद्वेषादि द्वारा बंध होनेवाला पापकर्म जब कि रागद्वेषादिके अभाव होनेसे रुकेगा और तीव्र पुण्य कर्मका बंध तथा पूर्वसंचित पापकर्मोंकी निर्जरा करदेनेवाले सम्यक्त्वादि गुणोंकी बढवारीसे पापकर्मोंका नाश तथा पुण्यकर्मका लाभ होगा

तो सुतरां तेरा आगामी समय सुखमयी बन जायगा । विषयोंके सेवनेमें तेने आजतकका सारा समय विताया पर, रत्तीभर कभी सारांश न मिला। तो फिर उन विषयोंसे विरक्त न होनेका क्या कारण है? अरे, इतने दिनतक तो विषयोंमें मग्न रहकर उनका दुःखमय परिपाक तेने पूरा समझलिया पर, गुण नए हैं इसलिये उनसे प्रीति करके भी तो देख; क्या फल मिलता है?

विषयदुःखोंका दृष्टान्तः—

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,
नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृत वृथैव,
प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः॥ ९३॥

अर्थः—यह सरोज (कमल) जलसे पैदा होकर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ–सदा उस जलसे जुदा ही रहा। इससे यह जान पडता है कि यह कमल अति कठोरहृदय है। इसीलिये शायद हंसोंने इसको खाया नहीं। केवल दिनमें ही खिला रहकर रातको मुद जाता है–सदा विकसित भी नहीं रहपाता। अरे भौंरा, इस कमलके ऐसे स्वभावकी तरफ तेने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्वभावका विचार न करके उसमें फसा इसलिये उसीमें वृथा प्राणान्त हुआ।

विषयोंका भी ठीक यही स्वभाव है। पुण्यकर्मका उदय जबतक रहता है तभीतक विषयभोग टिकते हैं, नहीं तो रातको कमलकी तरह पुण्यकर्मके खतम होते ही वे विलीन हो जाते हैं। आत्मामें उपजकर भी आत्मीय शुद्ध भावोंसे सदा ही ये विषय जुदे रहते हैं। अर्थात जहां आत्मीय शुद्ध भावोंका स्वरूप प्रकाशमान रहता है वहां इन विषयोंकी गति नहीं होपाती। इसीलिये शायद इन्हें तीर्थकरादि श्रेष्ठ पुरुषोंने कठोरहृदय दुःखदायक समझकर भोगनेसे छोड दिया। ऐसे निःस्नेह निःसार क्षणभंगुर इन विषयोंमें जो जीव फसते हैं वे वृथा ही

मरण पाते हैं। पर व्यसनी जनोंको व्यसनके सामने अपने हिताहितका भान प्राय कहां रहता है? नहीं। इसीलिये तो यह कहावत है कि व्यसनी जनोंको अपने हिताहितका विवेक प्राय नहीं रहता। अरे जीव, तू ऐसे निरर्थक, उलटे दुःखदायक विषयोंमें भौंरेकी तरह फसकर प्राण क्यों गमाता है? ये विषय भोगते समय तो ठीक कमलकी तरह कोमल लगते हैं। पर कमल जिस प्रकार फसे हुए भौंरेको आखिर मारकर छोडता है उसी प्रकार ये विषय अपनेमें फसे हुए जीवोंको अनेक वार प्राणान्तके दुःख देनेवाले हैं। इसीलिये हंससदृश श्रेष्ठ पुरुषोंने इन्हें दूरसे ही छोड रक्खा है।

अथवा ये विषयभोग उस पत्थरके समान हैं कि जिस पर पानीके संसर्गसे काई लग जाती है। छूते तो वह काई अति कोमल जान पडती है पर, पैर रखते ज्यों ही मनुष्य गिरता है कि सारे अंजर पंजर टूट जाते हैं। व्यसन भी प्रथम स्पर्शके समय तो आपात रमणीय जान पडते हैं पर, ज्यों ही प्राणी उनमें फसा कि आधि व्याधि निर्धनता आदि अनेक दुःखमय कीचडमें गिर पडता है कि जहांसे निकलना तथा संभलना कठिन। देखते ही ऐसे दुःख तो भोगने पडते हैं किंतु पापसंचित करके जब परभवमें पहुचता है तो और भी अधिक दुःखोंकी खानिमें पडना पडता है। इसलिये विषयोंसे प्रीति करना अच्छा नहीं है।

विवेक तथा सावधानीकी दुर्लभता:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥९४॥

अर्थः—प्रथम तो विचार होना ही कठिन है, पर परलोकके सुधारकी तरफ विचार जाना और भी कठिन है। भाग्यवश यदि उस तरफ विचार लग भी गया हो तो भी करनेमें मनुष्य आलसी बने रहते

१ 'सेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत् केवलदुःखहेतुः' इसका भाव है।

हैं। विचार तो ढेरों करें पर तो भी जिन्हें अपने कर्तव्यकी कुछ परवा" ही नहीं है ऐसे जीवोंको देखकर संतपुरुषोंको बडा खेद होता है। क्योंकि, वे समर्थ होकर भी हाथसे मौका जाने देते हैं।

भावार्थः—संसारमें एकेन्द्रियादि पशु नारकादि ऐसे पर्याय बहुत हैं कि जिनमें पडे हुए जीवोंको सच्चा कल्याणमार्ग सूझता ही नहीं है। कहीं कहीं कुछ सूझता भी है तो बाकी साधन नहीं मिलते जिससे कि वे कुछ करसकें। एकमात्र मनुष्य पर्याय ही ऐसा है कि जिसमें विवेक, कुल, संगति संतउपदेश आदि कल्याण साधनेकी पूरी सामग्री मिल सकती है। पर उसमें भी सबोंको वह सारा जोग मिलता नहीं है। और जहांतक ऐसा है वहांतक यदि कुछ हाथसे हो नहीं पाता तो भी देखकर गम नहीं होता। किंतु जो सर्वप्रकार इस मनुष्य-पर्यायमें संभव साधन पालेते हैं और अनुभव तथा विवेक भी जिन्हें परलोकका हो जाता है वे जब कि सारा जन्म 'आजका कल' करते ही निकाल देते हैं तो उनपर साधु संतोंको बडा पश्चात्ताप होता है। क्योंकि, जो समर्थ और धर्म धारणके अधिकारी हो चुके हैं वे यदि धर्म धारण नहीं करते तो कौन करेगा? इसलिये जिन्हें परलोकके सुधारका विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ है उन्हे चाहिये कि वे धर्म धारण तथा सेवन करनेमें विलम्ब न करें। किसीका यह कहना ठीक है कि

काल करै सो आज कर, आज करै मो अब्ब।
पलमें परलय होयगा फेरि करेगा कब्ब?

जीनेका कुछ भरोसा नहीं है कि कब यहांसे चल वसेगा?

धर्मका आराधन छोड परसेवा करनेवालेको उपदेशः—

लोकाधिपाः[1] क्षितिभुजो भुवि येन जाता,-
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या,-
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति॥ ९९॥

१ 'लोकाधिकाः' ऐसा पाठ भी संस्कृत टीकाकारने लिखा है।

अर्थः—यह बात जग-जाहिर होरही है कि संपत्ति धर्म करनेसे मिलती है। सर्व जगमें श्रेष्ठ जगके स्वामी ऐसे राजा महाराजाओंका पद मिलना, अतुल पराक्रम होना यह सब जिसके सामर्थ्यसे प्राप्त होता है वह एकमात्र सच्चा पुण्य है जो कि केवल धर्म सेवनसे संचित होता है। इसलिये जिन्हें राजाओंकेसे धन ऐश्वर्यकी चांह है उन्हें चाहिये कि उसी धर्मका सेवन करें। पर, मूर्ख लोग ऐसा न करके क्या करते हैं? राजा महाराजाओंकी सेवा करते हैं। और केवल मूर्ख ही नहीं किंतु बडे बडे पराक्रमी, बडे बडे विद्वान् तक उन्हींकी सेवा करते हैं। अरे भाई, तुम यह तो विचार करो कि वे भी जो राजा महाराजा बने हैं वह धर्मके ही सेवनसे बने हैं। और धर्मका बल घट जाता है तो वे भी राजासे रंक होते दीखते हैं। तो फिर तुम भी उसी धर्मकी सेवा क्यों नहीं करते हो? यदि तुमने धर्म सेवन करके पुण्य कमाया होगा तो जगवासी जनोंकी सेवा न करते भी तुम्हें सुख-संपत्ती मिलती रहेगी। और यदि पुण्यका संचय तुमने नहीं किया या तुम्हारे पास पुण्य शेष नहीं रहा तो हजार राजाओंकी सेवा करनेसे भी तुम्हें कुछ हाथ न लगेगा, दुःखीके दुःखी ही रहोगे। इसलिये जब कि तुम्हें राजाओंकी सेवा करके भी पूरा और सीधा सुख नहीं मिल सकता तो वृथा जगमें नीचे बनकर अपमान क्यों सहते हो? धर्मकी सेवा करो कि जिससे तुम अवश्य सुखी हो, लक्ष्मीवान बनो, जगके अपमानसे बचो और लोग तुम्हारी उलटी सेवा करने लगें।

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः,
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रिये।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निरासस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः॥ ९६ ॥

अर्थः—दूसरोंको जिसका उपदेश किया जाता है उसका नाम प्रदेश हो सकता है। उपदेश धर्मका होता है इसलिये प्रदेश नाम धर्मका

हुआ। धर्म वही उत्तम है कि जिसके धारण करनेसे मनुष्य इक्ष्वाकु आदि सर्वश्रेष्ठ कुलोंमें जन्म लेकर राजा-महाराजा बन सकते हैं और आजतक बने। वे भी ऐसे वैसे नहीं, किंतु जो ज्ञानका पार पाने वाले हों, अपरिमित धन-संपत्ती तथा हर तरहकी उन्नति प्राप्त करने वाले हों; एवं जिन्हें लोग लक्ष्मीकी लालसासे मस्तकपर धारण करते हों।

उस धर्मका मार्ग अनेक प्रकारसे है। अर्थात् दान देना, व्रत करना, ज्ञानाभ्यास करना, उपवासादि इंद्रियसंयम धारण करना ये सब धर्मके ही मार्ग हैं। परंतु जब संसारके विषयोंकी वांछा रखकर ये सब काम किये जांय तबतक धर्म नहीं होता। इसीलिये इसे निराश कहा है। अर्थात्, ऐहिक आशा छूट जानेपर यह धर्म बन सकता है। इसीलिये भुजंग अर्थात् जो विषयभोगी जीव हैं उनको यह सर्वथा अगम्य है। विषयभोग और धर्म सेवन ये दोनो परस्पर विरोधी हैं। जिसके एक होता है उसके दूसरा नहीं हो सकता। इस धर्मको सभी श्रेष्ठ पुरुष समझते हैं। दान, दया, देव-पूजा, व्रत, इंद्रियसंयम इन्हें कोन नहीं जानता है कि इनसे आत्मा पवित्र होता है और ये धर्म हैं? तो भी बडे बडे आचार्यतक इसे मूर्तिमान् पदार्थकी तरह प्रत्यक्ष दिखा नहीं सकते; क्योंकि, घटपटादिकी तरह यह कोई मूर्तिक पदार्थ नहीं है। फक्त मनसे ही इसका चिंतवन हो सकता है। अथवा दीर्घसंसारी विषयासक्त जीवोंको हम कहकर गले उतार नहीं सकते किंतु आर्यपुरुषोंमेंसे तो यह सभीके प्रतीति-गोचर होरहा है।

इस श्लोकका पहले श्लोकके साथ संबंध हो रहा है। अर्थात् यह धर्म ही ऐसी अपूर्व वस्तु है कि जिसके धारण करनेसे श्रेष्ठसे श्रेष्ठ राजपद और बडे बडे कुलोंमें जन्म, सर्वोत्कृष्ट ज्ञानका लाभ, इतर जनोंद्वारा सत्कारका लाभ ये सब बातें मिल सकती हैं। और जब कि

१ पुण्णंपि जो समीहदि संसारो तेण ईहिदो होदि।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥

धर्मसे ही ये सब मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं तो उस धर्मका ही साक्षात् सेवन क्यों न किया जाय? क्यों फिर संसारी जनोंकी सेवामें दिन विताये जांय?

साधुओंकी विनानिमित्त बंधुताः—

शरीरेस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेपि निवसन्,
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते,
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥ ९७ ॥

अर्थः—अनेक दुःखोंके कारण तथा मलमूत्रादिकी अपवित्रतासे भरे हुए इस शरीरसे जीव विरक्त नहीं होता यह बात तो अलग ही रही, पर ऐसेके साथ अधिक प्रीति न करता हो यह भी तो उससे नहीं बनता है। उलटा उस शरीरके साथ अधिकाधिक प्रीति करता है। खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सुझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर। इस प्राणीके जितने बंधुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगनेके डरसे ऐसा एक शब्द भी कभी नहीं बोलते कि जिससे उस प्राणीकी शरीरसंबंधी प्रीति कम हो। परिपाकके सयय चांहे वह कितना ही दुःखी होनेवाला क्यों न हो पर, उसके मित्र बांधव सदा वही बात सुनाते और दृढाते हैं कि जिससे उसे तत्काल अनिष्ट न भासता हो। इसीलिये वे सच्चे मित्र बांधव नहीं हैं; क्योंकि, वे अहितसे उसे रोकते नहीं हैं। तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कोन है? जो उस अहित प्रवृत्तिसे उसे बचाता हो। ऐसा कोन है? ऐसे साधु संतपुरुष होते हैं कि जो जीवोंकी शरीरादिके साथ उत्कट प्रीति देख कर भी यह विचार नहीं करते कि इन जीवोंको हमारा उपदेश कठोर लगेगा। किंतु, वे फलसमयमें हितावह समझकर अपने सार उपदेशको सुनाते ही हैं और परिपाकसमयमें दुखदाई ऐसे शरीर-प्रेमको छुडानेका यत्न करते ही रहते हैं। अहो संसारके जीवों,

ऐसे महापुरुषोंके निष्कारण परहितकी तरफ देखो। ये महापुरुष ही सच्चे मित्र या हितू हैं। क्या जीवोंको हितोपदेश सुनानेके बदले उन जीवोंसे उन्हें कुछ मिलेगा? नहीं। उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है कि जिससे वे सदा सबोंका निष्कारण हित साधन करनेमें प्रवर्तते हैं।

भावार्थः—अरे भाइयों, जब कि वे महापुरुष निर्निमित्त तुम्हें शरीरादिके साथ प्रीति करनेसे रोकते हैं तो समझना चाहिये कि सचमुच वह प्रीति दुःखदायक होगी। और इतना तो अपने अनुभव-गोचर भी हो सकता है कि जो शरीरसे प्रेम करते हैं वे शरीरके ही रक्षण–पोषणमें लगे रहकर अपना जीवन नष्ट कर देते हैं। वे थोडेसे शरीरके कष्टको बडा समझकर कायर और कष्टी होते हैं। वे जीव शरीरकी हितचिंतनामें सदा मग्न रहनेसे आत्मकल्याणकी तरफसे सदा ही विमुख रहते हैं। शरीरकी रक्षाकेलिये अन्याय भी करनेसे कभी कभी चूकते नही हैं। इंद्रियोंसे प्रेरित हुए अनेक संकटोंका सामना करते हैं। पर यह शरीर तथा इंद्रियां क्या सदा बनी ही रहेंगी? नहीं। कभी न कभी अवश्य इन्हें छोड परलोक जाना ही पडेगा। इसीलिये विनश्वर इस शरीरादिके फंदेमें फसकर जीव अपने अविनाशी आत्मकल्याणको हाथसे जाने न दें, यह विचार कर संतपुरुष कर्कश या अप्रियपनेकी तरफ लक्ष्य न देकर जीवोंको इस शरीर-प्रेमसे हटानेका सदा उपदेश देते हैं। किसीने साधुओंकी यह स्तुति जो की है वह ठीक ही की है कि 'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' संतोंकी सर्व चेष्टा परोपकारकेलिये ही केवल होती है; उसमें स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं रहता।

सारांशः—

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम्।

एतावदेव कथितं तव संकलय्य,
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥ ९८ ॥

अर्थः—अहो, हम तुझे वार वार यह क्या कहैं कि तेने ऐसे ऐसे दुःख भोगे हैं और इस इस तरहसे भोगे हैं ? क्योंकि तेने ही तो जन्म धारण करके आजतक वे दुःख तथा शरीर भोगे और छोड छोड दिये हैं। इसलिये संक्षेपमें तुझसे इतना ही कहना वस है कि जीवोंका यह शरीर ही सर्व आपदाओंका ठिकाना है। भावार्थ, इसका संबंध जबतक है तबतक आगे भी दुःख भोगनेमें आवेंगे। इसलिये इसका संबंध और स्नेह छोडना ही तेरे लिये हितसाधक हो सकेगा।

गर्भके दुःखः—

अन्तर्वान्तं वदनाविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्,
कर्मायत्तं सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या[1]।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ ९९ ॥

अर्थः—उदर एक मलमूत्रका कुण्ड है। उस कुण्डमें आयुःकर्मके आधीन हुए तेने बहुतसे समयतक वास किया है। उस समय तुझे भूख प्यासके दुःख भी अत्यंत सहने पडे हैं। वहां रहते हुए भी तेरी तृष्णा कम नहीं हुई। शरीर बढाने पोसनेकी लालसा बढती ही रही। माताने जो खाया पिया उसकी सदा तू यह इच्छा करता रहा कि मेरे फाडे हुए मुखमें यह अन्न–जल आकर पडे। गर्भाशयका स्थान छोटासा रहनेसे कभी तुझे वहां हलने चलनेको भी नहीं आया। पेटमें अनेक प्रकारके जंतु उत्पन्न होते हैं और रहते हैं वहींपर तू रहा। जन्मते समय तुझे और भी अकथनीय क्लेश सहने पडे हैं। इस सब दुःखसे तू डर चुका है। मरण होगा तो उसके आगे फिर जन्म भी धारण करना ही पडेगा। अरे प्राणी, यह समझकर ही मालूम पडता है कि

१ 'वृद्धिगृद्ध्या' ऐसा भी पाठ होसकता है पर, देखनेमें नहीं आया।

तू मरनेसे डर रहा है। यह उत्प्रेक्षा अलंकार कहाता है। कविने इसमें मरणसे डरनेका कारण कल्पनाद्वारा सिद्ध किया है।

अज्ञानसे अपना नाश आप ही किया। देखः—

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किंचित् सुखरूपमाप्यते तदार्य विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम्॥१००॥

अर्थः—अब कदाचित् तू उपदेश पाकर सुधर जायगा। पर अभीतक तो तुझे कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। तेने आजतक अपने ही हाथसे अपने ही नाशके कारण इकट्ठे किये। जैसे कोई बकरा कटनेके लिये आप ही जमीनमें गढी हुई छुरीको पैरोंसे खोदखाद करके काटने वालेके सामने करदे। अथवा ऊपरसे पडती हुई तलवारके नीचे आप ही अपना शिर झुकादे, जिससे कि वेमोत ही उसका मरण हो जांय। ठीक ही है, जबतक हिताहितका ज्ञान ही नहीं है तबतक अपने हाथसे अपना अहित करलेना भी क्या बडी बात है?

यहां शंका है कि जीवोंके सभी काम जब कि दुःखदायक नहीं हैं तो सभीको अजाकृपाणीय या आप ही अपना घातक कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि, जो जीव जबतक आत्मकल्याणकी खोजमें नहीं लगा है तबतक उसकी सारी क्रियाएं चांहे सुखसाधक दीखती हों या दुःखसाधक, पर बाहिरी मोहसे भरी हुई होनेके कारण उन्हें पाप तथा दुःखके ही कारण कहना चाहिये। और कदाचित् पंचेन्द्रियसंबंधी भोगोपभोगकी सिद्धि होते देखकर उन क्रियाओंको सुखसाधक भी मान लिया जाय तो भी यह विचारना चाहिये कि ऐसी क्रियाएं कितनी हैं? सुख कितनी जगह होते हुए दीख पडता है? इस प्रकार विचार करेंगे तो जान पडेगा कि सुखका मिलना बहुत ही कठिन है। दुःख कष्ट आपत्ति विपत्ति पर्वतके बरावर तो सुख-शांती सरसों बरावर। इसीलिये ऐसा कहा कि जो कुछ इस दुःखमय संसारमें

१ इसीको ‘अजाकृपाणीय’ न्याय संस्कृतभाषामें कहते हैं।

थोडासा सुख दीख पडता हो उसे ऐसा समझो जैसे अंधेके हाथ बटेर। अंधा हाथ पसारै और बटेर उसके हाथमें पडजाय, यह जैसा असंभव नहीं पर, अति कठिन है वैसे ही संसार जहां कि दुःख ही दुःख नजर आते हैं उसमें कभी कहीं सुखका लेश मिलजाना असंभव नहीं तो भी अतिकठिन तो है ही।

जो काम सहज रीतिसे सब जगह होते रहते हैं उन्हें 'अजा-कृपाणीय' कहते हैं। यह शब्द उपमाद्योतक है। 'अंधकवर्तकीय' शब्द[1] भी उपमार्थका द्योतक है। अतिकष्ट-साध्य कामोंकेलिये यह शब्द बोला जाता है। भावार्थ, दुःखके साधन तो सदा सभी कामोंमें मिलते रहते हैं पर सुखके साधनोंका मिलना अति दुर्लभ। किंतु चांह तुझे सुखकी ही होरही है। इसलिये सुखके साधन तुझे तभी मिलसकेंगे जब कि तू बहुत ही सोच समझकर चलेगा और आत्माका कल्याण विषयोंसे विमुख होकर साधना चांहेगा।

काम-सुख चांहने वाले की दशाः—

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोपि।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते॥ १०१॥

अर्थः—कोई मनुष्य किसीको यदि धनुष लेकर प्रत्यक्ष मारना चांहे तथा शस्त्रादि अप्रिय वस्तुसे मारना चांहे तो उससे मनुष्य सावधान हो सकता है, अपनी रक्षाके लिये कभी कभी उलटा मारने भी लगता है और धोखा नहीं खाता। यदि पूरा मूर्ख ही कोई मनुष्य हो तो

---

१ इसीको संस्कृत भाषामें 'अन्धकवर्तकीय' न्याय कहते हैं।

२ 'काण्ड' यह नाम धनुष तथा समयका है। इसलिये सप्तमी विभक्ति माननेसे 'असमयमें' ऐसा इसका अर्थ होगा। और यदि प्रथमा विभक्ति मानकर बहुव्रीहि समास मानै तो कामका विशेषण हो सकेगा और तब अर्थ होगा कि 'धनुषरहित'।

कदाचित् उससे मार खारहेगा। परंतु कितने कष्टकी बात है कि प्रचण्ड काम, धनुषके विना ही प्राणियोंको विदीर्ण करता है; शस्त्रादि अनिष्ट साधन नहीं लेता किंतु अतिप्रिय वस्तु जो कान्ता, उसीसे लेकर विखण्डित करता रहता है और इसीलिये किसी भोले मनुष्यको ही नहीं किंतु, उन मनुष्योंको भी कि जो अपनेको ज्ञानी मानते हैं। और फिर भी देखो यह आश्चर्य है कि, उस कामकी वेदनाओंको लोग धीरताके साथ सहलेते हैं, पर तपश्चरणरूप अग्निको प्रदीप्त कर कामको भस्म करदेनेका साहस कभी नहीं करते।

ठीक ही है, उसके धोखेमें चांहे जो आजाता है कि जो प्रत्यक्ष विरोध प्रकाशित न करके किसीको मारनेका प्रयत्न करता हो, एवं विना शस्त्र लिये ही किसी गुप्त चीजसे मारना चांहता हो। काम भी ठीक ऐसा ही ठग है। वह मारनेके लिये कोई शस्त्र धारण नहीं करता, किसीसे विरोध जाहिर नहीं करता। जीवोंको जो इष्ट जान पडते हैं ऐसे वनिता आदि साधनोंके द्वारा जीवोंको सताता है, और जीव तो भी उसे मित्रतुल्य ही मानते हैं। इसीलिये उसके नाशका प्रयत्न न करके उलटा उसे सबल बनानेकी फिक्रमें रहते हैं। तभी तो कामके उत्पादक शरीरको जहां कि तपश्चरण-द्वारा सुखा देना चाहिये वहां उसको हरतरह पुष्ट बनानेकी प्राणी चेष्टा करते हैं। यह कितना विपर्यय है?

यदि वह काम नष्ट करना हो तो क्या करें?—

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोप्यन्यो न पर्यग्रही,-
द्देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥१०२॥

अर्थः—भोगोंकी प्रवृत्ति तथा इच्छाको काम कहते हैं। इस कामका मुख्य साधन लक्ष्मी है। इस लक्ष्मीके छोड देनेसे काम नहीं रह सकता। इसलिये लक्ष्मीका त्यागना यही कामके नाशका यथार्थ

उपाय है। इस लक्ष्मीके त्यागनेके अनेक ढंग हैं। (१) कोई जीव जब विषयोंको तिनकेकी भांति असार समझ जाता है तो वह उस लक्ष्मीको याचक जनोंकेलिये देडालता है; और पहले इसी तरह बहुतोंने दिया है। (२) कोई जीव उस लक्ष्मीको ऐसा समझता है कि यह पापके बढानेवाली है और संतोषका नाश करनेवाली है। यह समझ कर भी किसीको दी तो नहीं, पर पुत्रादिकोंके आधीन घरमें छोड-कर वह त्यागी बनगया। या (३) उसके लेनेसे लेनेवाला भी पापी वन जायगा यह समझकर किसीको दी तो नहीं किंतु यों ही उसे छोडकर तपस्वी बनगया। (४) और कोई विवेकी ऐसा होता है कि जो उसे अहित-कारिणी मानकर छूता ही नहीं किंतु उस लक्ष्मीका संबंध होनेसे पहले ही घर छोडकर वीतरागी तपस्वी बन गया हो। ये सभी त्यागी उत्तम हैं; पर उत्तरोत्तर अधिक अधिक श्रेष्ठता है। सवसे उत्कृष्ट वे ही त्यागी हैं कि जिन्होंने लक्ष्मीका ग्रहण ही नहीं किया किंतु अनर्थकी जड समझ कर उसे पहलेसे ही छोडकर वनवासी बन गये हों। क्यों?—

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
मावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

अर्थः—जबतक विषयोंमें राग भाव बना हुआ है तबतक तो हाथसे लक्ष्मी छूटती नहीं है किंतु अकस्मात् जानेपर भी उन्हें उसके वियोगका दुःसह दुःख होता है। पर जो संत पुरुष संपदा को निस्सार जान उससे विरक्त हो चुके हैं वे उसे सहजमें ही छोडदेते हैं। उनके छोडदेनेका कुछ अचिरज नहीं करना चाहिये। जब उसकी निस्सारता प्रगट हो चुकी तो उससे विमुख होना क्या बडी बात है? यदि किसी भोजनसे किसीको ग्लानि हो चुकी हो तो फिर वह भोजन चाहें कितना ही अच्छी तरह क्यों न खाया गया हो पर तो भी क्या उसका वमन नहीं हो जायगा? अवश्य हो जायगा।

ईसीलिये (१) जो विषयोंको पूर्ण निस्सार समझ चुके हैं, (२) जो लक्ष्मीको पाप तथा असंतोषका कारण मान चुके हैं और (३) जो इसीलिये दूसरोंको दे देना भी उचित नहीं समझते ऐसे तीनो प्रकारके मनुष्य ग्रहण की हुई लक्ष्मीको सहजमें ही छोड देंगे। उन्हें वह विना छोडे चैन भी नहीं पडेगा। क्योंकि, वे उस लक्ष्मीका सारा अंतरंग स्वभाव प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके हैं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया हैं कि लक्ष्मी असली सुखका कारण नहीं है; उलटी सदा दुःखदायक ही है। इसीलिये उन महात्माओंसे वह लक्ष्मी अपने आप छूट जाती है। उन्हें उसके छोडनेमें प्रयत्न करना नहीं पडता। परंतु (४) जिन्होंने अभी उस लक्ष्मीको छुआ तक ही नहीं है—जो अभी बाल्य अवस्था छोडकर स्त्री-पुत्रादिके उपभोक्ता और अत एव लक्ष्मी संग्रह करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं हुए हैं वे यदि पहलेसे ही उसे छोड दें तो अधिक आश्चर्य है। क्योंकि, उन्हें उसका प्रत्यक्ष परिचय नहीं हुआ इसलिये वे उसके सुख-दुःखसे पूरे परिचित नही हो पाये हैं; तो भी उसे छोडनेके लिये उत्कंठित होगये हैं। तब, इस त्यागमें परम वैराग्य हो जानेके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। जब परम वैराग्य उपज जाता है तब विषयोंके छोडनेमें उनके अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। क्षणिक तथा जड पदार्थोंसे उस समय अपने आप विरक्तता उत्पन्न होती है और वह विरक्तता आत्माको उन विषयोंसे द्वेष न कराकर सहज निराला करलेती है। किंतु जो भोग भोगकर उन भोगोंके दुःखोंसे परिचित होकर उन्हें छोडनेकी इच्छा करते हैं उनमेंसे संभव है कि एक दो, उन दुःखोंका विसर पडनेपर फिर भी कदाचित् उनमें मोहित हो जांय। इसीलिये जो न भोगकर विरक्त हुए हों वे छोडते समय पूर्वोक्त तीनोंके वैराग्यसे उत्कृष्ट वीतराग हैं। या यों कहिये कि, वे ही परम विरागी हैं। उनका वैराग्य आत्मामें ओतप्रोत भरचुका है। इसीलिये

१ पहले श्लोकका खुलासा.

उनके निःस्वार्थ लक्ष्मी-त्यागकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोडी ही है।

लक्ष्मीके छूटते समयकी दशाः—

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम्।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥

अर्थः—जो मनुष्य आलसी है उसे लक्ष्मीके कमानेमें बडा भारी कष्ट दीख पडता है। इसीलिये यदि उसके हाथसे लक्ष्मी छूटने लगै या छूट गई हो तो उसे अत्यंत शोक होता है। जो सात्त्विक अर्थात् पराक्रमी है वह लक्ष्मीका कमाना सहज समझता है और इसीलिये उसे लक्ष्मीके जाते दुःख नहीं होता, किंतु इस बातका उलटा गर्व होता है कि मैं जैसा जल्दी लक्ष्मीको त्याग सकता हूं वैसा दूसरा नहीं। क्योंकि, जो मेरे बराबर लक्ष्मी कमा नहीं सकता वह खर्च या त्याग भी कैसे कर सकता है? इस प्रकार पराक्रमी मनुष्यको लक्ष्मीके त्याग करते अहंकार हो जाता है। पर जो मनुष्य तत्त्वज्ञानी है-जिसे यह मालूम हो चुका है कि लक्ष्मीके आने जानेमें पुण्य पापका उदय कारण है। मेरे उद्योग करने न करनेसे न आती है न जाती है। मुझसे कम उद्योग करनेवाले भी अधिक धनी हैं और अधिक उद्योग करनेवाले भी बहुतसे दुःखी हैं। जब कि ऐसा है तो मैं इसके हानिलाभका मुख्य कारण नहीं हो सकता हूं। ऐसा विवेक-ज्ञान जिन्हें हो चुका है उन्हें लक्ष्मीके जाते या त्यागते हुए न शोक ही होता है और न अहंकार या हर्ष ही होता है। यही आश्चर्य है; क्योंकि, संसारी मनुष्योंको लक्ष्मी जाते हुए शोक, नहीं तो अहंकार अवश्य होता है। इसलिये जिसे शोक या अहंकार कुछ भी नहीं होता उसे देखकर आश्चर्य होना सहज बात है। पर तत्त्वज्ञानियोंको इस बातमें आश्चर्य भी नहीं है।

विवेकी मनुष्यको लक्ष्मी जाते तो दुःख सुख नहीं ही होता है किंतु अत्यंत संलग्न शरीरके छोडते भी उसे कुछ सुख दुःख नहीं होता। देखोः—

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं,
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

अर्थः—खूब विचार करो तो मालूम पडेगा कि गर्भसे लेकर आखिरतक यह शरीर क्लेशोंसे भरा हुआ है, अति अपवित्र है, सदा भयदायक है, कुटिलताका पुंज है, तिरस्कार करानेका मुख्य हेतु है, पापोंकी सदा उत्पत्ति करता रहता है। इसीलिये विवेकी मनुष्य इसे छोडना पसंद करते हैं। और फिर भी जिसके छोडनेसे यदि मुक्ति प्राप्त होने वाली हो, या सब तरहके क्लेश दुःख दूर हो सकते हों तो उसे कोन ऐसा मूर्ख होगा जो छोडना न चाहता हो? ठीक इस शरीरका संबंध एक दुष्ट जनके संबंधके तुल्य है। दुष्ट जनोंके संबंधसे क्लेश होता है, अपवित्रता रहती है, अनेक प्रकारके भय होते रहते हैं, तिरस्कार सहने पडते हैं। वैसे ही इस शरीरके संबंधसे भी ये सब बातें पैदा होती हैं। दुष्ट जन निष्कारण दुःखदायक होते हैं, शरीर भी निष्कारण ही दुःख देता है। इसलिये जब कि दुष्ट जनके समागमसे सभी दूर रहना चाहते हैं तो शरीरसे भी दूर होनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसका जबतक संबंध है तबतक दुःखोंसे छुटकारा मिलना या परम कल्याण प्राप्त होना भी असंभव है। इसलिये इसका छोडना सभी विवेकी जनोंको पसंद होना चाहिये।

परंतु सीधा शरीरको छोडनेसे शरीर थोडा ही छूटता है? एक शरीर छूटेगा तो दूसरा नवीन शरीर धारण करना होगा। रागद्वेष तथा मिथ्या ज्ञान जबतक निर्मूल नहीं हुए हों तबतक शरीरका संबंध इसी प्रकार लगा रहेगा। पूर्वबद्ध कर्मके उदयसमयमें नवीन रागद्वेष उत्पन्न होते हैं जिससे कि नूतन कर्मबंध हो जाता है। इस कर्मका भी उदय प्राप्त करके फिर नए कर्मको बांधता है। इस प्रकार कर्म तथा राग-

द्वेषकी लडी बराबर लगी रहती है और वही लडी शरीरोंको उत्पन्न किया करती है। इसलिये शरीरनाश करनेसे पहले इस लडीका धीरे धीरे ह्रास करना चाहिये। तब संभव है कि शरीरका नाश किसी समय पूरा हो जाय। यही बात ग्रन्थकार आगे दिखाते हैं:—

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं,
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवर्तिभि,-
र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥ १०६॥

अर्थः—अहो भव्य, तू आजतक जन्म-मरणके अनेक दुःख सहता आया है। यह किसका फल है? विपरीत ज्ञान तथा रागद्वेषके द्वारा उत्पन्न हुई अनेक कुचेष्टाओंका यह फल है। ऐसे दुःख कुछ एक दो वार ही नहीं भोगने पडे हैं। तो? वार वार। और तू ही उनका भोक्ता है दूसरा कोई नहीं है। जब कि वार वार उन्ही राग-द्वेषादिकी चेष्टाओंके होनेसे वे दुःख सदा आजतक मिलते आये हैं तो इस कार्यकारणसंबंधका तू विचार कर। जिस क्रियाके होनेसे जिस फलकी प्राप्ति वार वार देखनेमें आचुकी हो उस क्रियाको उस फलका कारण मान लेना बहुत ही सीधीसी बात है। चांहे एक दो वार धुंएको गीला ईंधन तथा अग्निसे उपजते हुए देखकर भी कार्यकारणका ज्ञान न होपाता हो पर, वारवार वैसा देखनेसे अवश्य उनके कार्यकारण-संबंधका निश्चय हो जायगा। इसी प्रकार जब कि अनेक वार प्राणी यह बात देख चुका हो कि रागद्वेष तथा मिथ्याज्ञान द्वारा होनेवाली बाहिरी प्रवृत्तिसे मैं शरीर धारण करता हूं, विषयोंमें फसताहूं और दुःखी होता हूं, तो उसे क्यों न इस बातका विश्वास होगा कि ये ही रागद्वेषादि मेरे दुःखके कारण हैं? जब कि यह निश्चय हो चुका हो कि ये रागद्वेषादि मेरे दुःखके कारण हैं तो यह भी समझलेना सुगम है कि इनसे उलटा चलनेपर वह दुःख नष्ट हो जायगा। इसीलिये

आचार्य कहते हैं कि भव्य, तेने रागद्वेषादिके द्वारा संसारके जन्ममरण-संबंधी दुःख तो निरंतर अनुभव किये; अब इससे उलटी प्रवृत्तिसे चलकर भी देख, और एक वार ही देख, कि क्या होता है? इस रागद्वेषादिसे उलटी प्रवृत्ति धारण करनेपर निश्चयसे तुझे उसका उलटा ही फल मिलेगा। अर्थात्, जब कि राग-द्वेषादिसे जन्म मरणके दुःख प्राप्त हुए हैं तो उससे उलटी प्रवृत्तिका फल यह होगा कि जन्ममरणादि दुःखोंका नाश हो जाय। रागद्वेषसे उलटी प्रवृत्ति अर्थात् समीचीन चारित्र; एवं मिथ्याज्ञानका उलटा श्रेष्ठ ज्ञान होसकता है। इसी उलटी प्रवृत्तिको तथा उसके फलको आगे दिखाते हैं:—

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः,
पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं,
विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

अर्थः—अरे भव्य भाई, दया दम त्याग और समाधि, इनकी जहां सदा प्रवृत्ति रहती है उस मार्गमें तू सरलताके साथ चलनेका प्रयत्न कर। यह मार्ग इतना अच्छा है कि इसमें चलनेसे एक दिन उस अपूर्व स्थानमें जीव पहुच सकता है कि जिसकी प्रशंसा वचनोंसे नहीं होसकती और जिसे हम मनसे भी विचार नहीं सकते हैं। वह सुख-स्थान इतना परोक्ष है कि आजतक संसारी जीवको एक वार देखने तकको नहीं मिला। इसीलिये उसका हमें नामतक मालूम नहीं है। पर वह स्थान है अवश्य, और इस पूर्वोक्त प्रकारसे चलने वालेको ही मिल सकता है।

भावार्थः—अपनेको या दूसरोंको दुःखी समझकर उनपर करुणा धारण करना-ये जीव कब सुखी होंगे, ऐसी भावना करना, इसे दया कहते हैं। इंद्रिय, मन वश करनेको दम कहते हैं। विषय तथा परिग्रहमेंसे आसक्ति छोडना, एवं धन धरती आदि चौदह बाह्य परिग्रह,

क्रोधादि दश अंतरके परिग्रह, इन सबोंको छोडना वह त्याग है। सर्व विषयोंको दुःखदायक समझकर आत्मचिंतनमें लीन होना और उससे अपनेको सुखी मानना वह समाधि कहाती है। इन चारों साधनोंके संग्रह करनेका यत्न करनेसे जीव इन्हें पा सकता है; और इसका पालेना ही सुखका सच्चा मार्ग है। इस मार्गको पकडे रहनेसे अवश्य परमात्म-पद की प्राप्ति होगी। वह परमपद इतना उत्कृष्ट है कि आजतक यदि इंद्रादिकोंके सुख भी भोगे हों तो वे भी उसके सामने धूल हैं। इसीलिये उसका वर्णन संसारवर्ती जीव नहीं कर सकता और न उसका मनद्वारा चिंतन ही कर सकता है। जिसका आजतक जिसने अनुभव ही नहीं किया वह उसका यदि विचार करै तो क्या करै? संसारका कोई सुख उसकी तुलना भी तो नहीं रखता जिससे कि अंदाजन वह समझा जासकै। इसीलिये किमपि अर्थात्, कोई एक परमपद है ऐसा कह कर ग्रन्थकर्ता भी थक गये। परंतु दया दम त्याग और समाधिके धारण करनेसे जब कि अंशतः सच्चा स्वाधीन अभेद्य सुख प्राप्त होता हुआ अनुभवगोचर होता है जो कि विषयासक्तिमें आजतक कभी प्राप्त नहीं हुआ तो अनुमानसे यह बात समझमें आजाती है कि इसी मार्गसे परम और पूर्ण उस सुखकी प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। दया, दम, त्याग, समाधि ये सब चारित्रके भेद हैं जो कि मोक्ष-प्राप्तिका अंतिम साधन है। चारित्रका यही माहात्म्य और भी दिखाते हैं:–

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते॥ १०८॥

अर्थः–जीवाजीवके स्वरूपको सत्य, निरनिराला दिखानेवाला जो ज्ञान उसे विज्ञान समझना चाहिये। उसके द्वारा जब मोहनीय कर्मका नाश हो जाता है तब सम्यग्दर्शनका लाभ होता है। क्योंकि, भेदज्ञानके होनेपर सम्यग्दर्शनके घातक दर्शनमोहनीयनामा कर्मका नाश होगा और फिर सम्यग्दर्शनका लाभ अवश्य ही होगा। इस

प्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये मोक्षके दो साधन जब कि मिल चुके तो तीसरे एकमात्र चारित्रका मिलाना बाकी रहगया। यह तीसरा साधन जब प्राप्त हो जाता है तब मोक्षका प्राप्त होना दूर नहीं और उसमें विलम्ब नहीं समझना चाहिये। परिग्रहोंका त्याग होनेसे चारित्र प्राप्त होता है। या यों कहिये कि, परिग्रहका त्याग होना ही चारित्र है; क्योंकि, विषयोंमें रागद्वेष होनेसे संसार बढता है इसलिये संसारके असार स्वरूपसे जो विरक्त होगा उसका परिग्रहोंसे मन हटेगा और इसीलिये परिग्रहका छूटजाना उसके लिये एक सहज बात है। जो जिसे अच्छा बुरा समझता है उसका उसमें रागद्वेष होना सहजसिद्ध है। इसी प्रकार जो जिसे निस्सार समझता है उसका उससे मोह छूट जाना भी सहज बात है। इसीलिये जो विषयोंके दुःखदायक फलको समझ चुका है वह उनसे क्यों न उदास होगा? जब कि विषयोंसे उदास होगया तो विषयोंके ही लिये इकट्ठे किये जानेवाले परिग्रहोंसे क्यों न हटेगा? वस, इसीलिये परिग्रहोंका छूटजाना अंतरंगके चारित्त परिणामका प्रकाशक होसकता है। जब कि इतनी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार न करना हो तो यों कहलीजिये कि, परिग्रहोंका त्यागना ही चारित्र है। जब ये तीनों रत्न प्राप्त हो चुके तो समझना चाहिये कि मोक्ष–प्राप्तिके पूरे साधन जुडगये। ऐसी अवस्थामें जरामरणादि शरीरसंबंधी दुःखोंसे रहित मोक्षपदकी प्राप्ति क्यों न होगी? क्योंकि, कुल कारणोंके मिलजानेपर कार्यका सिद्ध होना अवश्य ही न्याययुक्त है। इसके लिये एक दृष्टान्त कहते हैं जिससे कि ऊपरका अर्थ खुलासा हो,

वह यह कि, जैसे दूषित शरीरको शुद्ध करनेकेलिये योगके ग्रंथोंमें पवनसाधनका विधान दिखाया गया है। उसी पवनसाधनके अंतर्गत सर्व विधि समाप्त हो जाने पर अंतमें कुटी–प्रवेश नाम एक क्रिया की जाती है। वह क्रिया पूरी हुई कि शरीरकी शुद्धि हो जाती

है। कुटीप्रवेश-क्रियासे पहलेके साधन मिल जानेपर भी जबतक कुटी-प्रवेश नहीं हो पाता तबतक शरीर-की शुद्धि नहीं हो पाती। पूर्व क्रिया करलेनेपर यदि कुटीप्रवेश भी हो जाय तो अवश्य शरीर-शुद्धि होती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक चारित्रका ग्रहण करनेसे संसार छूटकर मोक्ष प्राप्ति नियमसे हो जाती है। केवल सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे वह मोक्ष नहीं मिलता और चारित्रकी प्राप्ति दर्शन-ज्ञानके पहले नहीं होती, ये बातें इस उपर्युक्त दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाती हैं।

मोक्ष चीज तो बडी ही अपूर्व है, अनुपम है, अनन्त अविनाशी अचिन्त्य सुखका धाम है; पर, उसकी ऐसी महिमाका प्रत्यक्ष करदेना संसारी जनोंके सामने कठिन बात है। इसीलिये संसारी जनोंको 'अजरामर' विशेषण कहकर उसका अनुभव कराना ग्रन्थ-कर्ताने उचित समझा। मनुष्योंको जरा मरणके दुःख सबसे बडे दीखते हैं। इसलिये आचार्य यह दिखाते हैं कि ये भी दुःख उस मोक्षमें नहीं रहते तो औरोंकी क्या बात है? अथवा यों कहिये कि, मोक्ष तथा संसारमें यदि स्थूल अंतर देखना हो तो जरामरणका ही अंतर है। संसारमें मनुष्योंको जहां कि निरंतर और असह्य जरामरणके दुःख भोगने पडते हैं, वहां मोक्ष प्राप्त होनेपर वे सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं-स्पर्श भी उनका फिर कभी नहीं हो पाता। बस, इतनेसे ही अनुभव होसकता है कि मोक्ष कितने सुखका पिण्ड है? इसकी प्राप्तिका जब कि अंतिम साधन चारित्र या त्याग है तो उस त्यागका सर्वोत्कृष्ट प्रकार कैसा होगा यह बात विचारने योग्य हुई इसलिये,

सर्वोत्कृष्ट त्यागका स्वरूप और वैसे त्यागियोंकी प्रशंसाः—

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

---

१. 'विश्वमाशितम्' ऐसा भी पाठ है।

२. कुमारब्रह्मचारिणे' ऐसा भी पाठ है।

अर्थः—जिनका विवाह होना निश्चित होगया, तो भी विवाह न करके जो बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचारी बनगये उनके लिये हमारा नमस्कार है। केवल ब्रह्मचारी ही नहीं बने किंतु वंशपरंपरागत लक्ष्मी तथा राज्यसंपदाको पाकर भी विना भोगे जिन्होंने छोड दिया और दीक्षा धारण करली। किसी चीजको भोगनेका अधिकार पाकर या भोगनेके लिये सामने आजाने पर यद्यपि न भोगकर ही छोड दिया जाय तो भी वह चीज उच्छिष्ट या झूंठन मानली जाती है। क्योंकि, कोई चीज चाहें भोगलेनेपर वाकी रह जाय या न भोगकर ही छोड-दी जाय, पर उसे भोगनेसे वाकी रही हुई तो कहना ही पडेगा। वस, वाकी रहे हुए-का ही नाम उच्छिष्ट है। उत् नाम वाकी, शिष्ट नाम छूटगया। इन्हीं दोनो शब्दोंके मिलानेसे 'उच्छिष्ट' बन जाता है। इसीलिये जो चीज न भोगकर भी छोडदी गई हो वह उच्छिष्ट होगई समझना चाहिये। जिसने उसे पाकर छोड दिया उसकेलिये वह उपभुक्त भी हो ही चुकी। इसीलिये उन ब्रह्मचारियोंने चाहें जगकी विभूतिको न भोगकर ही छोड दिया, पर वह विभूति, वह जग उनका उपभुक्त हो चुका। जगकी रीतिकी तरफ देखें तो जो भोगलिया हो उसे उपभुक्त कहते हैं और जो भोगते भोगते वाकी रह जाय उसे उच्छिष्ट कहते हैं। पर इन्होंने भोगा ही नहीं तो भी जगभर उपभुक्त हो गया और छूट गया इसलिये उच्छिष्ट भी होगया यह आश्चर्यकीसी बात है। और सच्चा आश्चर्य यह है कि विना भोगे हुए पाई हुई संपदाको तृणवत् समझकर उन्होंने त्याग कैसे किया? भोगसंपदा न मिलते हुए भी जीव जहां कि शतशः मनोराज्य बनाता रहता है और विषयोंसे लालसा छूट नहीं पाती; यों करूंगा तब ये सुख मिलेंगे, ऐसा उद्योग करूंगा तब ऐसी धन-दौलत मिलेगी ऐसी मानसिक भावना सदा ही इस जीवके अंतरंगमें लह लहाती रहती है, और चाहें मिलै रत्ती भर भी नहीं; वहां पाकर भी अतुल संपत्तिको छोड जाना और आत्माके समाधि-सुखमें जाकर रत होना कितने

आश्चर्यकी बात है ? उनके इस त्यागपरसे यही कहना पडता है कि वे परम विरक्त हो चुके थे। इसीलिये उन्होंने उस सारी संपदाको तिनकेकी तरह तुच्छ मानकर छोड दिया और असली आत्मसुखके रसिया बने। ऐसे सर्वोत्कृष्ट साधुओंको सिर झुकाये विना नहीं रहा जाता। उनको वार वार हमारा नमस्कार हो।

विषयोंको न भोगकर छोडनेबालेकी भावना और उसका फलः—

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं[1] तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ११० ॥

अर्थः—पर पदार्थ कभी अपना नहीं बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करनेकी भावना कितनी ही चाहें की जाय और कितने ही उपाय किये जांय, पर वे अपने निज स्वरूपमें आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगा और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तुस्वभावकी स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने अपने निरानिराले स्वभावोंको रखनेवाले जब कि माने गये हैं तो उनका एक दूसरेमें मिलजाना या एक दूसरेकी एक दूसरेसे भलाई–बुराई होना असंभव बात है। जड–चेतनका, मूर्तिमान्–अमूर्तिकका मेल होना ही कठिन है तो एक दूसरेकी वे भलाई–बुराई क्या करेंगे? दूसरी बात यह कि, आत्मामें वह आनंद भरा हुआ है कि जो जड पदार्थोंमें असंभव है। शरीरसे चेतना निकल जानेपर वह शरीर तुच्छ और फीका भासने लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड है, उसमें आनंद या सुखकी मात्रा क्या रह सकती है ? शरीरमें रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतनका ही चिन्ह है, नाकि जड शरीरका। क्योंकि, आनंद या सुख, ज्ञानके विना नहीं होता। वह ज्ञानका ही कार्य है, ज्ञानका ही रूपान्तर है। तो फिर जडमें वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिये सुखकी लालसासे जड

१ ‘ योगगम्यं ’ ऐसा पाठ भी हो सकता है।

विषयोंका सेवन करना, उनसे सुख चांहना पूरी पूरी भूल है । तब ? केवल आत्माके स्वभाव जाननेकेलिये उसीका ध्यान करो-चिंतन करो तो संभव है कि कभी आत्माका पूरा ज्ञान होजानेसे पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय । जब कि अज्ञान अवस्थामें भी थोडासा ज्ञान शेष रहनेके कारण जीवोंको कुछ सुख अनुभवगोचर होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बननेपर पूरा सुख क्यों न मिलेगा ? जब कि चेतना ही आनंददायक है तो जड पदार्थोंमें फसनेसे आनंद कैसे मिल सकता है ? क्योंकि, जड पदार्थोंमें फसनेसे ज्ञान नष्ट, या हीन अवस्थाको प्राप्त होता है जिससे कि आनंदकी मात्रा घट जाना संभव है । जड पदार्थोंमें फसने वाला जीव आत्मज्ञानसे तो वंचित होता है और इधर जड पदार्थोंसे कुछ मिलनेवाला नहीं है इसलिये दोनो तरफके कामसे जाता है । उसे न इधरका सुख न उधरका सुख । यदि वही जीव सब तजकर अकेले आपेको भजने लगै तो पूर्ण तीनो जगका ज्ञान प्राप्त कर सकता है । फिर उससे बचा ही क्या रहा ? इसीलिये मानना चाहिये कि वह तीनो लोकका स्वामी बन चुका ।

जब कि यह जीव सब झगडे छोडकर आत्मज्ञानको प्राप्त करके सारे असार संसारमेंसे अपने चिदानंदको सार भूत समझने लगा और उस लोकश्रेष्ठ आनंदका अनुभव करने लगा तो इससे बडा और तीन लोकका स्वामी कोन होगा ? कोई नहीं । उस समय यही तीन लोकका स्वामी बन जायगा । क्योंकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुखको भोगता है । जीव जब कि तीनो लोकके एकमात्र सार सुख आत्मानंदको भोगने लगा तो वह तीनो ही लोकका स्वामी हो चुका । इसीलिये यह कहा कि,—

तू ऐसी भावना कर कि मैं अकिंचन हूं-सभी जड पदार्थोंसे मेरा ज्ञानमय स्वरूप निराला है । ऐसी भावना करते करते जब तू अहं-अर्हात्, आत्मस्वरूपको अभिन्न अपना स्वरूप समझ जायगा तब तू

तीनो लोकका पूर्ण स्वामी बन जायगा। इसलिये तू सब झंझटोंसे अपनेको निराला समझ कर अपने स्वरूपमें ठहरनेका प्रयत्न कर। ऐसे स्वरूपकी प्राप्ति योगियोंको ही हो सकती है। एकाकी आत्माका ध्यान करनेसे त्रैलोक्यपति कैसे बन जाता है यह बात भी योगियोंको ही पूरी समझमें आई है। अथवा यों कहिये कि, एकाकीपनेकी भावनासे प्राप्त होनेवाला सुख योगियोंको ही मिल सकता है; केवल कहने सुननेसे वह प्राप्त नहीं होता। एकाकी आत्माको मानकर उसका चिंतन-ध्यान करनेसे तू भी योगी हो सकता है। योगी बननेसे तुझे भी उस परमात्माके पदकी प्राप्ति होगी और तभी उस पदका पूरा आनंद तुझै अनुवगोचर होगा। यह योगिगम्य परमात्मपदकी प्राप्तिका रहस्य तुझै कहा।

यहांतक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनो गुणोंकी तीन आराधना कहीं। आगे तपश्चरणकी आराधना कहते हैं।

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥

अर्थः—मनुष्यके पर्यायका मिलना तो अत्यंत कठिन बात है पर है यह अत्यंत अपवित्र और सुखरहित। इस पर्यायसे अधिक देवादि पर्यायोंमें सुख प्राप्त होते हैं इसलिये यह सुखका जनक पर्याय भी नहीं कहा जासकता है। दूसरे, इस पर्यायमें विपत्ति इतने प्रकार की भोगनी पडती हैं कि इस पर्यायको भी जीव भारभूत समझने लगते हैं। और सचमुच ही इसमें दुःखोंके सिवा है क्या? मरनेके समयतककी खवर नहीं रहती कि कब किसका मरण होगा। इसलिये और भी यह एक चिंता मनुष्योंके पीछे सदा लगी ही रहती है। पूरा जीवनकाल ही एक तो बहुत थोडा, पर उसके भी वीचमें ही मरण हो जानेका भी भरोसा नहीं है। परंतु तपश्चरण इसी पर्यायमें होसकता है। और मुक्ति तपके विना होती नहीं है। तो फिर यदि मुक्ति प्राप्त करना हो तो मानुष्य पर्याय पाकरके तप करना ही चाहिये।

भावार्थः—मुक्तिके विना निश्चित सुख कहीं कभी किसीको नहीं मिल सकता है। और वह सुख प्राप्त करना सभीको इष्ट है। तो फिर तपके द्वारा कर्मोंका नाश करके मुक्ति सुख इस मानुष्य भवको पाकर क्यों न करलेना चाहिये ? क्योंकि, मनुष्यभवके विना तप नहीं होसकता और तपके विना कर्म नहीं जल सकते, जो कि मुक्ति होनेसे रोकनेवाले हैं। यह मनुष्यभव भी वार वार मिलनेवाला नहीं है कि अब तप न किया तो फिर किसी वार होसकेगा। यह मनुष्यभव अत्यंत ही दुर्लभ है। समुद्रमें डाली हुई सरसो कदाचित् फिर भी हाथ लग सकेगी पर, मनुष्यभव गया हुआ फिर सहज तो क्या, अति क्लेश करने पर भी जल्दी हाथ न लगेगा। और इस भवमें ऐसी कोई बात भी नहीं है कि जिसकेलिये तप छोड दिया जाय। अपवित्र-मलमूत्र रक्त मांस वगैरहका यह पिंड है। क्षुधा तृषा रोग शोक आदि दुःखोंसे पूरा कभी छूट ही नहीं पाता। इसके जीनेका क्षणभरका भी पक्का भरोसा नहीं है। चाहें जब चाहें जिसके शरीरसे चेतना निकल जाती है। असली आधार जो आयुःकर्म, वह तो किसीको जान ही नहीं पडता है कि कब खतम होनेवाला है। पर वह कर्म बना रहते हुए भी रोग वेदना शस्त्राघात विष आदि क्षुद्र कारण मिल जाने पर शरीर की स्थिरता नष्ट हो जाती है। नारकियोंतकका शरीर नियत समय पूरा होने पर छूटता है पर, मनुष्यके शरीरका कुछ भी भरोसा नहीं है। जब कि मनोरंजक पवित्र नहीं, सुखजनक नहीं और इसके नाशका भरोसा नहीं; तो फिर किसकेलिये इसमें प्रेम किया जाय और तपश्चरण द्वारा इससे प्राप्त होने वाला निराकुल निश्चल सुख प्राप्त न करलिया जाय ? इस प्रकार देखनेसे मालूम होगा कि तप करनेसे ही इसका पाना सार्थक है, नहीं तो इसका पाना दुर्लभ होकर भी निस्सार है।

तप बहुत प्रकारके हैं पर, मुक्तिकी सीधी प्राप्ति समाधितपसे ही होसकती है। उसीसे साक्षात् कर्मोंका नाश होसकता है। वह समाधि किसमें लगाना चाहिये और उसका फल क्या है ? वह देखोः—

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता,
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं,
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः॥११२॥

अर्थः—परम ज्ञानसंपन्न तीनो जगतका स्वामी ऐसा परमात्मा समाधिमें चिंतवन करना यह तो हुआ काम, जिसे कि सभी श्रेष्ठ पुरुष अच्छा समझते हैं । उसी परमात्माके चरणोंका चिंतवन करना वस, इतना क्लेश हुआ समझिये । इससे कर्मोंका धीरे धीरे क्षय हो जाता है इतना नुकसान हुआ समझिये । इस समाधिके धारण करनेसे फल क्या है ? मुक्तिका सुख प्राप्त होना फल है । इसके सिद्ध करनेमें समय बहुतसा लगता होगा ? नहीं, थोडेसे समयमें ही इस समाधिकी सिद्धि होसकती है । इसकेलिये सामग्री इकट्ठा करनेमें बहुत दिक्कत उठानी पडती होगी ? नहीं, अपना मन, यही केवल साधनोपाय है । अब देखिये, समाधिके साधनेमें कितनी कठिनाई है ? थोडीसी भी है या नहीं ? इस बातका बुद्धिमान मनुष्योंको खूब विचार करना चाहिये ।

भावार्थः—तपसे आत्माकी शुद्धि होना माना गया है । जैसे अग्निमें सुवर्णको तपानेसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही बाह्य अंतर दोनो प्रकारके तपों द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है ।

सुख शांति ज्ञान ये आत्माके स्वभाव ऐसे विलक्षण हैं कि दूसरे किसी भी पदार्थमें नहीं मिलते । इसीलिये आत्माको अनुभवगोचर वाकी सर्व वस्तुओंसे निराला कहना पडता है । जैसे एक खास तरहका पीलापन सुवर्णका ऐसा स्वभाव है कि वह दूसरे किसीमें भी नहीं मिलता । इसीलिये सुवर्ण सव धातुओंसे एक निराली चीज मानी जाती है । और इसीलिये वह पीलापन जितना कम अधिक हो, सुवर्णमें दूसरी चीजोंका मेल भी उतना ही कम अधिक देखनेसे मालूम पड सकता है । जिस समय सुवर्णका वह पीलापन पूरा पूरा हो उस समय उसमें

किसी दूसरी चीजका मेल भी नहीं माना जाता, वह सुवर्ण पूरा शुद्ध माननेमें आता है। इसी प्रकार जब कि आत्माके सुख शांती तथा ज्ञानादिक खास स्वभाव हैं तो उनके कम अधिक होनेसे या विपरीत होनेसे उनके विघातक दूसरे विजातीय कारणोंका मेल होना भी उस समयके आत्मामें मानना मुनासिब है। संसारवर्ती जीवोंमें सुख-शांती तथा ज्ञान, ये गुण पूरे पूरे प्रकाशमान् नहीं रहते या विपरीत रहते हैं यह बात बहुत ही सरलताके साथ जानी जासकती है। क्योंकि, संसारका सुख है वह आकुलता तथा इष्टवियोगादि दुःखोंसे पूरित रहता है, शांतिका भी भंग इससे होता ही रहता है। ज्ञान सभी जीवोंके परस्पर निरनिराले तथा हीनाधिक रहते दीखते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खानमेंसे तत्काल निकले हुए सुवर्णकी तरह संसारवर्ती जीव भी पूरा स्वच्छ निर्मल नहीं है। तो? अग्निसे जैसे वह सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही जीवकी भी बाह्य तपसे बाह्य शुद्धि तथा अंतर तपसे अंतर शुद्धि होसकती है।

इस तपके करनेमें कष्ट जान पडता है, पर किनको? उन्हींको कि जो अज्ञानी हैं—आत्माकी अशुद्ध अवस्थाका जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ है। जो सुवर्णके परीक्षक नहीं हैं उन्हें सुवर्णको अग्निमें तपाना व्यर्थकी दिक्कत जान पडेगी, पर जो परीक्षक हैं वे कभी उसको व्यर्थकी दिक्कत नहीं मानेगे। इसी प्रकार संसारवर्ती जीवकी अशुद्धतापर जिनका विश्वास नहीं हैं वे इस तपको चाहें व्यर्थकी दिक्कत समझें, पर जो इसके परीक्षक हैं—ज्ञानी हैं वे, उसे व्यर्थकी दिक्कत कभी नहीं मानेगे। जिससे उत्तर कालमें अनुपम लाभ होनेवाला हो उस कामको समझदार क्यो दिक्कतका मानने लगे? फिर भी बाह्य तप या उपवासादि अंतरके कुछ तप चाहें थोडी दिक्कतके हों पर, जिससे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होसकती है ऐसे समाधितपमें तो दिक्कत है ही नहीं। वहां जितना देखो उतना आनंद ही आनंद।

परमात्माकी आराधना समाधिमें की जाती है। इसे कोन बुरा कहेगा? सभी संत पुरुष इसे श्रेष्ठ कार्य समझते हैं। इसमें लगनेसे थोडीसी शांति तो तत्काल ही प्राप्त होने लगती है। इसलिये इसमें कष्ट तो माना ही नहीं जासकता है। हां, प्रारंभमें ही थोडासा सुखजनक होनेसे परिपाकमें इससे पूर्ण सुखका होना मानना अवश्य पडता है। परमात्माके चरणोंका जो ध्यान करना पडता है उसे चाहें क्लेश कहलीजिये या आनंद। क्योंकि, भगवच्चरणोंका ध्यान और अपनी शुद्ध अवस्थाका चिंतवन यह एक ही बात है, जिसे कि प्राप्त करना जीवका परम कर्तव्य है। भगवच्चरणोंके चिंतवनसे अपनी अवस्थाकी सुध आती है और उस तरफ चिरकाल तक टकटकी लगनेसे कर्म-कलंक नष्ट होकर आत्मा धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है,-परमात्मा बन जाता है। इसीलिये यह कहा कि इस ध्यानके करनेसे कर्मोंका अत्यंत नाश हो जाता है, इतना मात्र नुकसान है। पर कर्मोंका नाश कर शुद्ध अवस्थाका प्रगट करना तो हमें इष्ट ही है। इसमें नुकसान कैसा? इसलिये आगे चलकर यह भी लिख रहे हैं कि कर्मोंके नाशसे सिद्धिका सुख मिलना ही तो हमारा साध्य है। और वही हमें प्राप्त होगा। दिक्कत भी बहुत देरतक नहीं उठानी पडेगी, किंतु सच्ची समाधि यदि लग गई हो तो अंतर्मुहूर्तमें भी कर्मोंका नाश हो जाना संभव है। इसकेलिये सामग्री भी कहीं बाहिरसे लानी नहीं पडती। अपना अंतःकरण ही साधन है। मन जोडा कि बेडा पार। मन तो वैसे भी इधर उधर फिरता ही रहता है। उसे निस्सार कामोंमेंसे हटाकर इधर लगा देना कुछ कठिन बात नहीं है। अब देखिये, इस थोडीसी एकाग्रतासे ही जब कि परम कल्याण होसकता है तो इसको कोन बुद्धिमान् कष्ट मानेगा? बुद्धिमानोंको स्वस्थ चित्त करके इसपर खूब विचार करना चाहिये। हम तो कहेंगे कि समाधिके बरावर कहीं भी सच्चा आनंद नहीं मिलसकता है। और फिर इसके परिपाकके आनंदका तो कहना ही क्या है? और भी देखिये:—

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्षते,
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।
चरणमपि किं स्पृष्टुं शक्ताः पराभवपांशवो,
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥११३॥

अर्थः—अहो भव्य जीवों, तुम समझते होगे कि धन दौलत तथा विषयसेवन सुखके कारण हैं। तप धारण करनेवालेको ये छोडने पडते हैं। इसीलिये तप कोई अच्छी चीज नहीं है। तप करना अर्थात् अपने आप न आये हुए दुःखोंके वीच आकर फसना है—न पैदा हुए दुःखोंको पैदा करना है-न आनेवाले दुःखोंको आग्रह करके बुलाना है। तपकी तरफ न झुककर यदि विषयसेवन किया जाय तो बडा ही आनंद आता है। धन दौलतसे विषयोंका सुगमताके साथ संग्रह होसकता है इसलिये धन दौलत भी इकट्ठा करना बहुत जरूरी है।

पर यह तो कहो कि आंधी पवनके जोरदार झकोरे लगनेपर जब जीव इधर उधर डगमगने लगता है तव क्या उसे थोडा भी आनंद प्रतीत होता है या क्लेश? उस अवस्थामें आनंद कैसा? अपने सँभालनेकी उलटी पंचायत पडती है, मन स्थिर नहीं रहता। उस समय यह विचार होने लगता है कि मैं कहीं गिर न जाऊं, इसमें कैसे सँभलना होगा? इत्यादि। ऐसी तरहकी जब मनमें चिन्ता लग गई तो सुख कैसा? वहां तो अपनेको सँभालते सँभालते वेजार होना पडता है। वस, यही हालत धन-दौलत की है। जो इसके चक्करमें पड जाता है वह अपनेको सँभालते सँभालते वेजार होता है। वहां क्या थोडासा भी सुख किसीको दीख पडता है? नहीं। तो फिर धन-दौलतमें आनंद क्या रहा? रहा विषयसेवन, पर यह भी एक व्याधके समान अत्यंत दुष्ट है। व्याध जिस प्रकार पक्षियोंको अपने जालमें फसालेता है और उन्हें परतंत्र बांधकर रखता है; कभी कभी मार भी डालता है। इसी प्रकार विषय भी जीवोंको फसाते हैं और फिर अपने चंगुलमें आये हुए उन जीवोंको कभी निकलने नहीं देते,

सदा उसी फंदेके पराधीन रखते हैं; कभी कभी उन्हें मार भी डालते हैं। विषयोंमें अति लुब्ध हुआ प्राणी अंतमें उन्हींमें फसकर प्राण गमाता है। कामकी दुःखमयी अनेक अवस्थाओंमेंसे अंतकी मरण अवस्था ही है। काम-भोगका वियोग होनेपर अति लुब्ध हुआ प्राणी अति विचारकर संताप उत्पन्न कर शरीरको सुखादेता है और कालान्तरमें कदाचित् तीव्र आर्तध्यानके वश होकर या तीव्र वेदना बढनेपर अपने प्राण पखेरुओंको शरीरमें रोक नहीं सकता। कामके संयोगमें शरीर क्षीण होनेसे प्राणान्त होनेकी वारी आती है और वियोगमें संताप वेदना बढनेसे मरणतक होता है। इसलिये विषयोंकी लालसा हर हालतमें दुःखदायक है। इसके सतत संयोग रखनेकी इच्छासे जीव नोकरी सेवा आदि अनेक प्रकारके अपमान दुःख सहते हैं।

क्या ये सब दुःख सर्व विषयोंको छोडकर तपश्चरणमें रत होने वालेको होते हैं? नहीं। तप तो इसीलिये किया जाता है कि शरीरसे स्नेह छूट जाय और आत्मतत्वकी सच्ची पहिचान तथा प्राप्ति हो। कामादि विकार बढानेवाले शरीर और मनकी दुष्ट भावना है। कायक्लेशादि तपोंद्वारा जब शरीर सूख जायगा तो कामादि विकारोंको उत्पन्न नहीं कर सकेगा। आत्मचिंतन-ध्यानद्वारा जब मन पवित्र विचारोंमें लगजायगा तो उसमें गंदे विचार न उठेंगे किंतु धीरे धीरे आत्मतत्वके ज्ञानानंदमय स्वभावको प्राप्त करलेनेसे काम-भोगादिसंबंधी, उपर्युक्त सभी दुःख दूर हो जायंगे। अब कहिये, तपश्चरणसे अधिक और भी कोई परम इष्ट सुखका साधक हो सकता है? क्या तपस्वीके चरणोंतक भी, संसारी जीवोंको पद पदपर होनेवाली अपमानादि रज पहुंच सकती है? जो विषयाधीन होकर उनके पोषणार्थ परका आश्रय करै उसको ये सब दुःख हों। तपस्वीको इनसे क्या काम है? अब कहिये, तप अच्छा है या विषयभोग? अथवा, यों कहिये कि चारित्र तथा तप आदि धारण करनेवाला विषय तथा संसारसे इतना दूर रहता

है कि उसे कभी अपमानादि दुःखरजका स्पर्शतक नहीं होपाता। इसीलिये ग्रन्थकर्ता यह पूछते हैं कि, अपमानादि धूल चारित्रको कभी छू भी सकती है क्या? नहीं। पर चारित्र न धारण करनेवाले विषयाधीन जन तो उस धूलसे सदा धूसरित बने ही रहते हैं। जगमें अपमानादिक ही तो बडे दुःख हैं जो कि विषयासक्तका पीछा कभी नहीं छोडते। पर वे तपस्वीके पासतक भी नहीं भटक पाते। इसलिये तप दुःख नाशका और सुख प्राप्तिका मूल कारण मानना ही चाहिये।

और भी तपकी महिमाः—

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी,
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ ११४॥

अर्थः—अनादिकालसे साथ लगे हुए अति तीव्र क्रोधादि कषायोंका इस तपके धारण करनेसे ही नाश होता है। ये कषाय जीवको संसारके दुःख भुगानेके मूल कारण हैं इसलिये शत्रुके तुल्य हैं। इनको वश करना या जीतना तपद्वारा ही हो सकता है। क्योंकि, तप करनेवालेके इंद्रिय वशीभूत हो जाते हैं जिससे कि विषयवासना छूट जानेसे क्रोधादि या रागद्वेषादि कषायोंका बीजतक धीरे धीरे नष्ट हो जाता है। विषयवासना होनेसे ज्ञानाभ्यास; विषयव्याकुलता हटनेसे शांति; तप यह श्रेष्ठ कार्य होनेसे पूजा-सत्कार मिलना; इत्यादि उत्तम जिन गुणोंके प्राप्त होनेकी अभिलाषा जी-जान देकर भी जीव उत्कटतासे रखता है वे सब गुण सहजमें ही तपस्वीको प्राप्त होते हैं। ये सब तो लाभ हुए साक्षात् जो कि सभीके देखने सुननेमें आते हैं। पर, परभवमें या कुछ कालके बाद ही उस मोक्षपदकी प्राप्ति भी अवश्य होती है कि जो जीवका सर्वोत्कृष्ट तथा अंतिम साध्य है। इस मोक्षपदसे आगे और अधिक जीवको क्या साध्य होसकता है कि जिसमें पहुचनेसे संसार—संबंधी भूख, तृषा,

भय, खेद, जनन, मरण, जरा-रोग इत्यादि सर्व क्लेश निर्मूल नष्ट हो जाते हैं ? क्यों न हो ? जहां कर्मक्षय होजानेके कारण, अज्ञान तथा मोह-वश होनेवाले कर्मजन्य दुःखोंसे छुटकारा मिलता हो वहां जीवको कोन दुःखी कर सकता है ? मोक्षमें इन सब दुःखोंके बीजभूत कर्मोंका निर्मूल नाश होजाता है तो फिर वहांसे अधिक सुख कहां होगा ? दुःख सब पराधीनता या विजातीय वस्तुके मेलमें ही होता है। वह पराधीनता जो कि कर्मजन्य है वह वहां नहीं रहती तो फिर दुःख वहां किस बातका हो ? ऐसे अचिन्त्य सुखधाम मोक्षपदकी भी प्राप्ति जब कि इस तपसे हो जाती है तो बाकी अब क्या रहा ?

बुद्धिमान मनुष्यको किसी काममें चाहें प्रत्यक्ष फल न मिलने वाला हो, पर परिपाकमें यदि उत्तम फल मिलता दीखता हो तो उस कार्यको बुद्धिमान् अवश्य करता है। किंतु अज्ञानी मनुष्यकी इससे उलटी रिवाज होती है। उसे चाहें परोक्ष फल किसी काम करनेका मिलना संभव हो या न हो, पर प्रत्यक्ष फल यदि मिलता दीखै तो वह उस कामको अवश्य करता है। पर यह तपश्चरण ऐसी चीज है कि इसका फल प्रत्यक्ष भी है तथा परोक्ष भी है। और वह इतना उत्कृष्ट है कि जिससे सर्व क्लेश सदाकेलिये जडमूलसे नष्ट होकर सर्व शाश्वत आनंद प्राप्त हो जाता है। अब कहिये, मनुष्यकी इसमें भी प्रवृत्ति न हो तो किसमें होगी?

अधिक क्या कहें; जिन मनुष्योंने तपका आनंद भोगा नहीं है वे ही इसका लाभ समझ नहीं सकते हैं। जैसे भिल्लनी, जिसने कि सच्चे मोतियोंकी कदर समझी नहीं है वह वनगजोंके मस्तकसे बिखरे हुए मोतियोंको देखकर भी उन्हें नहीं छूती पर; गुंजाओंको समेट समेट कर उनके अनेक आभूषण, बनाती है और उन्हें पहन कर अपनेको

---

१ यो यस्य नो वेत्ति गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

धन्य समझती है। किंतु जो मोतियोंकी कदर समझता है वह कभी भी ऐसा करेगा ? नहीं। इसी प्रकार जो लोग इस तपके आनंदको लूट चुके हैं वे देखिये, उसमें कैसे मग्न होते हैं कि तप करते यदि शरीर भी उसमें नष्ट होजाय तो भी कुछ परवाह नहीं है। देखोः—

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्यार्जितफलः,
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः,
स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥ ११५ ॥

अर्थः—जैसे पुष्प बहुत ही मनोहर चीज है, परंतु उसका प्रयोजन यही है कि आगे वह फल उत्पन्न करे। यदि फल उत्पन्न करके वेलमें लगा हुआ फूल सूखकर पडजाय, तो वह पडते हुए भी बुरा जान नहीं पडता; क्योंकि, उसने फल उत्पन्न करदिया है। इसी प्रकार मनुष्यका शरीर प्राप्त होना बहुत ही सुकृतकी बात है। परंतु उस शरीरका प्रयोजन इतना ही है कि उसपरसे आगामी सुखदायक पुण्यफल उत्पन्न हो। जो साधुजन समझ चुके हैं कि उत्तम पुण्यफलकी प्राप्ति तपश्चरणके द्वारा हो सकती है वे तपश्चरणमें ही अपना सारा आयुष्य विताकर अंतमें शरीरको भी उसीमें खिपा देते हैं। वे धन्य हैं। तप क्या है ? विषय—जंजालमें फसनेसे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलता या अशांतिको छोडकर आत्मीय शांति प्राप्त करना है। क्योंकि, समाधि-तप सर्वोत्तम तथा सर्वोपरि तप है। उसमें केवल सच्ची स्वाधीन शांति ही शांति है। उसमें मग्न होनेवालेको साक्षात् शांति तो प्राप्त होती ही है किंतु विषय-व्यामोह छूट जानेसे मोह-अज्ञानवश बँधनेवाले पाप-कर्मोंका बंधन भी वंद हो जाता है। यदि बंध हो तो केवल पुण्य कर्मोंका। इसलिये यह तप-श्चरणरूप लता पुण्यकर्मरूप नवीन फल उपजानेवाली है। जैसे पुष्प नवीन फल उपजाकर खिरजाता है इसी प्रकार इस तपश्चरण-लतामें जुडा हुआ शरीर धीरे धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। परंतु नष्ट

होनेतक वह सुंदर तथा बहुतसा पुण्यकर्मरूप फल उपजा देता है जिसकी कि परिपक्व दशामें जीवको संसारमें भी असाधारण सुख प्राप्त हो; एवं परंपरया जो अंतमें संसारसे निवृत्त करदे । क्योंकि तपश्चरणके समयमें जो पुण्यफल प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व-पूर्वक होनेके कारण सातिशय होता है; और इसीलिये उससे किसीन किसी समय संसार-निवृत्ति भी अवश्य हो जाती है । इस प्रकार तपोवल्लीमें जुडा हुआ शरीर पुण्य-फल प्राप्त करके नष्ट होता है इसलिये वह शरीर उस पुष्पके तुल्य है कि जो व्यर्थ सूख न जाकर नवीन फलको पैदा करके सूखता है ।

इसी प्रकार उस साधुका आयुष्य भी सारा तपश्चरणमें लगे लगे ही बीतजाता है, पर विषयवासनामें एक क्षणभर भी जीवको फसाता नहीं है । इसीलिये उस साधुका आयुष्य दूधमें मिले हुए पानीके तुल्य है कि जो पानी दूधको आप रहते हुए कभी जलने नहीं देता । चाहें दूधके नीचे कितनी ही आग जलाई जाय, पर जबतक उसमें पानी है तब-तक वह धीरे धीरे आप तो जलता जाता है परंतु दूधको आंच नहीं आने देता । इसी प्रकार तपश्चरणमें लगे हुए साधुका आयुष्य, साधुके चौगिर्द विषय-जंजाल प्रदीप्त रहते हुए भी उनमें उस साधुको फसने नहीं देता, किंतु उसे उस संसार-अग्निमें जलाडालने वाले विषयाग्निसे बचाकर आप धीरे धीरे नष्ट हो जाता है ।

साधुओंका आयुष्य जब निश्शेष होने लगता है तब वे शरीरादिकसे सर्वथा उदास हो जाते हैं । यों तो वे पहलेसे भी शरीर इंद्रिय तथा इनके विषयोंसे विरक्त रहते ही हैं । परंतु आयुःशेष रहते हुए वे भोजनादि द्वारा शरीरको भी संभालते हैं; क्योंकि शेषायु रहते हुए यदि शरीरकी रक्षा भोजनादिसे वे न करें तो अपघात करनेके पाप-भागी हो जांय । कारण कि, शरीरकी स्थिति आयुःकर्म तथा अन्नादिके मिलनेसे रह सकती है । शरीर रखकर तपश्चरण करके पापोंका नाशकर मुक्त होनेकी उन्हें आवश्यकता है । इसलिये आयु रहते हुए

वे अन्नादिद्वारा शरीरकी रक्षा करते हैं। ऐसा करते करते कुछ प्रीति भी शरीरके साथ हो जाना सहज बात है। परंतु जब आयु निश्शेष होने लगा हो तब केवल अन्न देनेसे भी कुछ शरीर टिक नहीं सकता। फिर वृथा ही उसे मूर्ख मनुष्योंकी तरह वे शरीरको अन्नादिद्वारा रोकनेकी चेष्टा क्यों करें? क्योंकि, अंतरंग कारण आयुःकर्मके न रहते हुए शरीरको कितना ही अन्न या औषधादि उपचारके द्वारा टिकानेका प्रयत्न किया जाय, पर वह सब उपाय निस्सार है। जब कि साधुजन यह बात समझ रहे हैं और बचना सर्वथा असंव होगया हो तो वे उस शरीरकी वृथा संभालमें क्यों लगेंगे? उनका उस शरीरसे राग हट जाना सहज बात है। वस, इसलिये वे उस समय शरीरकी रक्षाके प्रयत्न तथा अन्य जन व वस्तुओंसे प्रेम तथा ईर्ष्या-द्वेष हटालेते हैं और शांतिके साथ शरीरसे जुदे हो जाते हैं। वस, इसीका नाम 'सन्न्यास'[1] है।

इस सन्न्यासरूप अग्निमें समाधि या योगधारण करके वे शरीरका अंत करदेते हैं। इस प्रकार साधुओंका आयुष्य अंततक साधुओंको संसाराग्निमें जलने देनेसे रोकता है और अंतमें आप उसीमें समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार जो साधु अपने संपूर्ण आयुष्य तथा शरीरको तपश्चरण करते करते ही खिपा देते हैं वे धन्य हैं। तपश्चरणमें इतना लीन वही होसकता है कि जो आत्मज्ञानी हो, आत्माको विषयसंबंधमें दुःखी समझता हो, तपश्चरणको संसार-दुःखका निर्मूल नाश करनेवाला मानता हो, तपको ही अपना पूर्ण कल्याणकर्ता समझता हो। जो जीव अज्ञानी है, विषयमोहित होरहा है, विषयोंको सुखका कारण समझता है, बाहिरात्मा है, तपसे अपने सुखका नाश हुआ समझता है वह तपश्चरण करनेमें घडीभर भी ठहर नही सकता है। उसमें ठहरना तो दूर ही रहा, तपकी तरफ झूँक कर वह देखेगा भी नहीं।

---

१ 'सन्न्यास'का यह स्वरूप माननेसे 'जान बूझकर मरजाने'का दोष आ नहीं सकता है।

जब कि साधु पूर्ण विरागी होजानेके कारण तपमें रत होते हैं तो शरीरकी भोजनादिकसे रक्षा करनेकी चेष्टा क्यों करते हैं ?—

अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥११६॥

अर्थः—ये साधुजन ऐसे हैं कि इनमें वैराग्य ओतप्रोत भर चुका है । तो भी शरीरकी एक-दम वेपरवाह करके समाधि आदि तपमें लीन नहीं होते हैं । शरीरको भी संभालते हैं और तप भी करते हैं । इससे ऐसा समझना चाहिये कि उन साधुओंको कार्यसिद्धिकी रीति-भांति अच्छी तरह मालूम हो चुकी है । उतावला न बनना ज्ञानका ही माहात्म्य समझना चाहिये ।

साधुजन यद्यपि पूर्ण निश्चय इस बातका कर चुकते हैं कि शरीरादि तथा विषयभोगादिसे छुटकारा मिलनेपर ही आत्मा सुखी होसकता है; और उसका उपाय एकमात्र तप है कि जिससे शरीर तथा शरीरादिजनक कर्मोंका सर्वथा नाश होकर आत्मा ज्ञानानंद—पूर्ण व शुद्ध हो जाता है । तो भी इन कर्मोंका तथा शरीरका एक-दम नाश करनेसे असली नाश नहीं होसकता है । यदि इस विद्यमान शरीरका भोजनादि संस्कार रोकदेनेसे नाश भी करदिया जाय तो भी अन्य किसी भवमें उत्पन्न होकर शरीरके दुःख भोगने ही पडेंगे । उलटी जो इस समय कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति, उत्साह, तथा सामग्री प्राप्त हुई है वह यों ही चली जायगी । इस जीवको तपश्चरणमें प्रवृत्त करनेकेलिये समर्थ ऐसी अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति तथा तपश्चरण करनेके योग्य शरीरादिकी प्राप्ति सर्वत्र नहीं होती है । तब? इस मिली हुई संपूर्ण सुखसामग्रीको उतावले बनकर यों ही खोदेना बडी मूर्खता है । तपश्चरण या समाधिसे आत्मा असली सुखी होता है यह बात समझलेनेपर भी तप या समाधिका पूर्ण लाभ एक-दम नहीं होसकता है । समझलेना और बात है और उसको साधलेना और बात है । समझलेनेपर भी किसी

कामके साधनेमें देरी लगती है। आत्माकी मुक्त अवस्थाका प्राप्त करना मन-वचन-कायके द्वारा आत्माको स्थिर बनानेके अधीन है। क्योंकि, ऐसा करनेसे योग या आत्मचंचलताका निरोध होता है; जिससे कि उद्वेगके कारण आकर बँधनेवाले कर्म, बँधनेसे रुकजाते हैं। पूर्व-संचित कर्मोंका भी उसीसे धीरे धीरे नाश होजाता है। यह सब बात कालसाध्य है। केवल जानलेनेसे इसकी सिद्धि नहीं होती है। जान-लेना यह ज्ञान है और चारित्र क्रिया है। इसीलिये तप धारण करलेनेपर एक-दम ही उसकी पूर्णता या कार्यकी सिद्धि उससे नहीं होसकती है। और मनुष्य-शरीरके विना तप या समाधि हो नहीं सकती। इसलिये शरीरकी रक्षा करते हुए उससे त्रियोगसिद्धि तथा मुक्तिप्राप्ति करना बुद्धिमानी है। यह समझकर साधुजन कालान्तरमें त्यागने योग्य इस शरीरको संभालकर रखते हैं और फिर तप करते हैं। ऐसा न समझना चाहिये कि उनके वैराग्यमें कुछ कमी होगी। देखोः—

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्टमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ॥११७॥

अर्थः—कर्मोंका नाश होकर मुक्तिकी प्राप्ति एक-दम नहीं होगी, किंतु क्रमशः होगी, इत्यादि उपरि लिखित विचार यदि साधुओं-का पोंचा पकडकर रोकनेवाला उनके हृदयमें न हो तो वे शरीरादि-कसे विरक्त तो इतने हो चुकते हैं कि एक क्षणभर भी देहकी प्रीप्ति तथा सहवास सहना किसको कहते हैं? क्षणभरमें वे इस शरीरको अन्नादिका निरोध कर नष्ट कर सकते हैं। पर वे विचारते हैं कि इसमें लाभ क्या है?

यह कुत्तेकी आदत होती है कि उठाकर ईंट मारनेवालेकी तरफ न झपटकर ईंटकी तरफ वह दौडता है। पर सिंहकी वृत्ति इससे उलटी होती है। वह ईंट मारनेवालेपर टूटता है। क्योंकि, ईंट विचारी क्या करती है? फेंकनेवाला ही निर्मूल नष्ट करना चाहिये। ठीक, संसारी

जनोंमें भी यही आदत है कि वे अनिष्ट संबंधसे द्वेष करते हैं, लडते झगडते हैं। पर साधु इन कर्मजनित शरीरादि दुःखकारणोंसे उतने न चिडकर कर्मबीजसे चिडते हैं और उसके नाशमें प्रवृत्त होते हैं, कि जो सर्व दुःखोंकी जड है। परंतु उस चिरसंचित तथा चिराभ्यस्त कर्मका नाश शीघ्र नहीं होसकता। उसके नाशकी तरफ लक्ष्य भी सहज और जल्दी नहीं बँधसकता। क्योंकि, आजतक उसके नाशका उपाय कभी साधा ही नहीं है। और उसका नाश भी होगा वह शरीरकी मदतसे होगा। इसीलिये साधुजन इस उपरि लिखित ज्ञानके द्वारा शरीर नाश करनेमें शीघ्रता करनेसे रुकते हैं; न कि वैराग्यकी कमी या शरीरको हितकारी अपना समझनेके कारण। इसलिये धीरताके साथ उचित समयमें कर्म तथा शरीरादि नष्ट करनेका साधन करना यह विचारकी तथा हिताहित-विवेककी ही महिमा समझना चाहिये।

कर्मका उदय भी साधुओंको मुक्ति प्राप्त होनेसे रोकता है। कर्मका फल जिस समय तीव्र उदयमें आया हो उस समय कितनी ही उत्कट इच्छा होनेपर भी कार्यकी सिद्धि नहीं होपाती है। साधुजन कर्मका तीव्र उदय होनेपर यदि चाहें और प्रयत्न करें कि हम शीघ्र ही कर्मोंका नाश करें तो नहीं करसकते हैं। तीव्र कर्मोदय उस समय उन्हें समाधि-ध्यानतक नहीं लगाने देता है। उनकी प्रवृत्तिको विचलित करता है। तब मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसलिये साधुपद धारण करके भी कर्मके मंदोदयकी प्रतीक्षा करनी पडती है। कर्मके तीव्र उदयमें साधुजन विचार करते हैं कि कब हमें इस कर्मके मंदोदयका प्रसंग प्राप्त होगा; जब कि हम मोक्षकी साधनामें लगसकेंगे? यह कर्म कब और किसको धक्का देगा यह भरोसा नहीं होसकता है।

इस कर्मका तीव्र उदय तुच्छ जनोंपर या सामान्य साधुओंपर ही अपना असर डाल सकता हो, किंतु महापुरुषोंपर नहीं डालसकता है; यह बात नहीं है। संसारमें बडे बडे पराक्रमी, पुण्यशाली, तीनो लोकके पूजनीय

भगवान् तीर्थंकर-तक भी इसके उदयसे बचे नहीं हैं। जब कि तीव्र कर्मका वेग आकर पडता है तब उन्हें भी दुःख भोगने पडते हैं, समता धारण करके समय विताना पडता है, प्रतीक्षा इस बातकी करनी पडती है कि कब यह कर्म निर्बल हो और हम मोक्षकी सिद्धि करें ? देखोः—

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्,
तपस्यन्निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोपि सुचिरं,
न सोढव्यं किंवा परमिह परैः कार्यवशतः ॥११८॥

अर्थः—समय पाकर नाभि राजाके पुत्र भगवान् आदीश्वरने संपूर्ण विशाल राज्यसंपदाको तिनकेकी तरह त्यागदिया और संसारसे मुक्त होनेकी कामनासे तप करने लगे। जब भूख लगी तब मान छोडकर दीनोंकी तरह पर—घरोंमें फिरे। बहुत दिनोंतक कहीं भोजन मिला ही नहीं, तो भी तपसे भ्रष्ट नहीं हुए। किंतु तपस्याको साधते हुए चिरकालतक लाभ न होते हुए भी भिक्षाकेलिये फिरते ही रहे।

उन्होंने इतना कष्ट उठाया तो भी तपको छोडा नहीं। तपकी वृद्धि करते हुए ही शरीर रक्षाकेलिये प्रयत्न किया। यदि वे चांहते कि हम विषयसुख भोगें, इतना कष्ट उठाकर तप करनेमें क्या लाभ है ? तो उनकेलिये तीनो लोककी संपदा उपस्थित थी। तो भी उन्होंने तपको छोडना नहीं चांहा। तपके सामने विषयसुखको तुच्छ व हेय समझा। इसीलिये उन्होंने तपको रखकर शरीरका निर्वाह करना पसंद किया। यदि वे शरीर सुखको मुख्य समझकर विषयोंमें प्रवृत्त होते तो आत्मकल्याणसे वंचित रह जाते। परंतु उन्होंने तो आत्मकल्याणको मुख्य कार्य समझा था। इसीलिये दुस्सह कष्ट भोगनेकेलिये कायर नहीं हुए किंतु आत्मकल्याणकी सिद्धि पूर्ण की।

जिन्हें जो काम पूरा करना होता है वे उसकेलिये चांहे जैसे दीर्घ दुःखोंको सहते हैं पर, मतलबको हाथसे जाने नहीं देते हैं। अपने

प्रारंभ किये कार्यकी सिद्धिकेलिये श्रेष्ठ मनुष्य क्या क्या सहन नहीं करते ? जो श्रेष्ठ कार्यका प्रारंभ करके भी विघ्न आनेपर हट जाते हैं -कार्यको छोड बैठते हैं वे क्षुद्र मनुष्य होते हैं। अच्छे कामोंके बीचमें विघ्न आना तो निश्चित ही है। इसलिये जो विघ्नोंसे डरते हैं वे कभी अच्छे कार्यको पूरा नहीं कर सकते हैं। इसलिये अपने कार्यको अंत-तक पहुचानेकेलिये बीचमें आया हुआ विघ्न चांहे कैसा भी भारी हो, पर क्या सहना न चाहिये ? अवश्य सहना ही चाहिये।

अहो, कर्मके उदयके अनुसार फल तो प्राप्त होता ही है। जिस कर्मने संसारके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषोंको भी कष्ट देनेसे छोडा नहीं वह क्या साधारण मनुष्योंसे रोका जा सकता है ? नहीं। तो भी अपने कार्यको छोडना न चाहिये। देखोः—

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती,—
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हत-विधेः ॥११९॥

अर्थः—इंद्र सरीखे, गर्भमें आनेके पहिले ही से सेवकके समान जिनकेलिये हाथ जोडकर खडे होने लगे। जिन्होंने संपूर्ण संसारको उद्योगधंदा आदि प्रवृत्तिमार्ग सिखाकर उचित पथपर चलानेका क्रम सुरू किया। जिनका खुद पुत्र भरतचक्री निधियोंका स्वामी हो चुका था। इंद्रादि सभी महापुरुषोंके पूज्य होनेके कारण जो 'पुरु' इस नामको पाचुके थे। वे भी जब कि कर्मके तीव्र उदयवश हुए तब भूंखे प्यासे छह महीनेतक निरंतर भोजनकेलिये पृथ्वीपर भटकते फिरे, पर क्षुधाकी निवृत्तिका यथोचित कहीं प्रबंध एक जगह भी नहीं होपाया। अहो, इस संसारमें कोई कैसा ही बडा पुरुष हो, पर दुष्ट पापी दैवकी चेष्टा-को रोक नहीं सकता है।

१ विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

२ श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्येतन्न ह्यधुनाऽभवत् ॥ (श्रविादभिसिंहः)

भावार्थः—संसारमें जबतक रहना है तबतक दैव पीछे लगा ही हुआ है। उसकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता है। इंद्र जिनका सेवक ऐसे तीर्थंकरको ही जिसने छोडा नहीं उससे दूसरे तो बच ही क्या सकते हैं? इसलिये जबतक संसारमें रहना है तबतक सुख दुःखका कुल दारमदार दैवके अधीन है- पराधीन है। इसकी सत्ता रहते हुए दुःख तो दुःख है ही, पर सुख भी दुःख ही है। क्योंकि, दैवाधीन सुखके आगे पीछे चिंता, इच्छा, आकुलता इत्यादि दुःख लगे ही रहते हैं। सुखके साथमें भी अनेक तरहके दूसरे दुःख रहते हैं। सिवा इसके, संसारदशामें पूर्ण ज्ञान कभी भी प्रकाशमान न रहनेसे उस अज्ञानवश जो एक प्रकारकी धुंधीसी बनी रहती है वह सब आनंद किरकिरा करती रहती है। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो संसारमें रहकर कभी किसीको सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये भगवान् आदीश्वरने कर्मोंका निर्मूल नाश कर अविचलित आनंद दायक मोक्षपदकी प्राप्तिका सराहनीय उद्योग प्रारंभ किया। उसी कार्यकी सिद्धिकेलिये जब शरीररक्षाकी जरूरत पडी तो इष्ट कार्यमें बाधा न करके भोजनकी तलासमें इधर उधर भटके। विघ्न कर्मका तीव्र उदय होनेसे भोजन जब न मिला तो भी अपने आरंभे हुए कार्यसे पराङ्मुख न हुए और उस दुःखकी कुछ परवाह भी नहीं की। इस प्रकार जब कि वे भगवान् अपने कार्यके साधनेमें आसक्त हुए तो अंतमें उस शाश्वत स्वाधीन सुखको पा ही लिया।

इसी प्रकार जो कर्मजनित पराधीन सुखसे विमुख होकर आत्मसुखकी प्राप्तिमें लगते हैं वे उस परम अविनश्वर मोक्षसुखको पासकते हैं। पर ऐसा दृढसंकल्प हो किसका सकता है? उसीका कि जो कर्मकी अवस्थासे अपने शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपको निराला समझचुका हो, और फिर कर्म निर्मूल भस्म करदेनेकेलिये तपश्चरण करनेको कटिबद्ध हो चुका हो।

लोगोंकी शंका यह होती है कि तपश्चरणमें दुःख है। इसलिये तप करना कठिन है और विषयके सुखोंको छोडकर दुःखमें जानबूझकर फसना मूर्खता भी है। ऐसा प्रश्न जिसको उठता हो उसकेलिये ग्रंथकर्ताने भगवान् आदीश्वरका दृष्टान्त दिखाकर यह बताया है कि कर्मका उदय दुःखका कारण है। तप कुछ दुःखका कारण नहीं है। जब कर्मका उदय विपरीत होता है उस समय तीर्थंकर सरीखे जन भी दुःख भोगनेसे वच नहीं सकते हैं। उस कर्मका संबंध संसारदशामें सर्वदा ही विद्यमान है। इसलिये जब कि कर्मका विपरीत उदय आता है तब घर बैठे हुए तथा अनेक सुखसाधन रहते हुए भी जीवको दुःख भोगने पडते हैं। तप यह कर्मके नाशका उपाय है। क्योंकि, तपमें आत्मस्वभावके सन्मुख होनेसे विपरीतता तथा अज्ञान-प्रवृत्ति घटती है। और इसलिये पूर्वबद्ध कर्मका क्रमसे नाश तथा नवीन कर्मबंधनका निरोध होने लगता है। अंतमें सर्व कर्मसे मुक्ति प्राप्त करके जीव नित्य ज्ञानानंदमें प्रवेश करता है। ऐसे परिपाक समयमें सुखजनक तपको दुःखका कारण समझना भूल है। जब कि दुःख घर बैठे जीवको भी छोडता नहीं है तो तप करते भी किसीको कदाचित् कुछ कर्म, उदयमें आकर दुःख दें तो वह तपका लांछन नहीं समझना चाहिये; और अपना प्रयोजन साधनेकेलिये शांति तथा धैर्यके साथ उन्हें सहलेना चाहिये; पर तपसे भ्रष्ट नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार यहांतक तीन आराधनाओंका स्वरूप कहा। पहली आराधना सम्यग्दर्शन आराधना, दूसरी चारित्र आराधना, तीसरी तप आराधना। इन तीनोंका स्वरूप सुननेपर भी तबतक इनसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होसकता जबतक कि श्रुतज्ञानादिक तत्त्वज्ञान आत्मामें प्रगट नहीं हुए हों। क्योंकि, तत्त्वज्ञान होनेपर ही सर्व उपदेश फलीभूत होते हैं। इसलिये अब ज्ञानकी महिमा व ज्ञानकी आराधना यहांसे कहना सुरू करते हैं।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी ।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥ १२० ॥

अर्थः--साधुजन जैसे संयम धारण करते हैं वैसे ही ज्ञान भी उन्हें धारण करना ही चाहिये । वैसे ही नहीं, किंतु मुख्य ज्ञानको ही धारण करना चाहिये । क्योंकि, ज्ञानके विना चारित्रकी शोभा नहीं है तथा अकेला चारित्र कार्यकारी भी नहीं है । ज्ञान तथा चारित्रका संगम वैसा ही होना चाहिये जैसा कि अग्निमें प्रताप तथा प्रकाशका संगम रहता है । ज्ञानको प्रकाशके तुल्य समझना चाहिये व चारित्रको प्रतापके तुल्य । प्रताप जैसे अग्निमें चमकता हुआ आग्निको किसी भी विजातीय वस्तुसे मलिन नहीं होने देता; किंतु सर्व विजातीय लकडी वगैरह चीजोंको आते ही भस्म करदेता है और अग्निको शुद्ध बनाये रखता है । वैसे ही चारित्र भी आत्मामें चमकता हुआ आत्माको किसी भी विजातीय वस्तुसे मलिन नहीं होने देता; किंतु विजातीय जो कर्म-ईंधन, उसे भस्म करके आत्माको शुद्ध करदेता है । रहा ज्ञान, वह प्रकाशकी तरह प्रकाशमान रहकर सर्व पदार्थोंको तथा मोक्षके मार्गको प्रकाशित करता है ।

साधुओंका यह चारित्र व ज्ञान यद्यपि प्रारंभकी अवस्थामें दीपकके प्रताप-प्रकाशके ही तुल्य है परंतु कालान्तरमें वही सूर्यके प्रताप-प्रकाशके तुल्य सर्वोत्कृष्ट प्रगट होकर भासने लगता है । किंतु वह ज्ञान-चारित्र सूर्यके तुल्य होता उसी साधुका है कि जो ज्ञानाभ्यासकी मुख्यता रखता है । केवल चारित्रमें मग्न रहनेवालेको आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं होपाती है ।

---

१ सूर्योपमाके समय जैसे ताप व प्रकाश, दोनो गुणोंकी तुलना चारित्र व ज्ञान गुणके साथ की है वैसे ही दीपोपमाके समय भी दोनो ही गुणोंकी तुलना होनी चाहिये । अन्तर केवल अणु महत् प्रमाणका है । इसीलिये दीपकके समय 'प्रकाशप्रधान' शब्दसे ज्ञान-गुणकी तुलना तो हो ही जाती है; किंतु चारित्रके साथ तुलना प्रताप गुणकी जो होनी चाहिये वह 'दीप' शब्दसे दीपन अर्थात् प्रताप, व 'संयमी' शब्दसे संयम अर्थात् चारित्र, यह अर्थ आकर्षित करलेनेसे होसकती है ।

भावार्थः—प्रारंभमें साधुओंका चारित्र व ज्ञान अधिक प्रकाशमान नहीं होसकता है; क्योंकि, उनकी वह अवस्था प्रारंभकी है। उस समय उनका ज्ञान कैसा ही अधिक हो परंतु श्रुतज्ञान ही रहेगा; जो कि परोक्ष है। यदि बहुत हुआ तो अवधि व मनःपर्ययतक होसकता है। परंतु वह एक-दम प्रथम ही प्राय नहीं होता और वह भी सर्वदेशीय सर्व विषयोंका प्रकाशक नहीं है। इस प्रकार प्रथम अवस्थामें ज्ञान पूर्ण नहीं होसकता है। चारित्र भी प्रथम समयमें सामायिक व छेदोपस्थापन ही होसकता है, अधिक नहीं। यह चारित्र सबसे ऊपरके यथाख्यात चारित्रसे बहुत ही हीन है; क्योंकि, कषायोंकी मात्रा इन चारित्रोंके समयमें पूरी मंद अथवा नष्ट नहीं हो पाती है। यथाख्यात चारित्र प्रगट होते समय ये ही कषाय पूरे शांत तथा नष्ट तक हो जाते हैं। इस लिये यह चारित्र भी साधारण ही समझना चाहिये। इसीलिये इस चारित्र व ज्ञान गुणको दीपकके प्रताप-प्रकाशके तुल्य कहा है। एवं जो इन गुणोंको धारण करनेवाला साधु है उसे दीपकके तुल्य कहा है।

यद्यपि दीपकमें प्रताप व प्रकाश, ये दोनो गुण प्रगट रहते हैं तो भी जैसा प्रकाश-गुण प्रधानतासे दीख पडता है व काममें आता है वैसा प्रताप नहीं। इसी प्रकार साधुके ज्ञान-चारित्र भी चांहे दीपकके तुल्य ही प्रारंभमें थोडेसे क्यों न हों पर तो भी प्रधान ज्ञान-गुण ही रहना चाहिये। यदि इस प्रकार कोई साधु ज्ञान-गुणको मुख्य रखकर तपस्वी बनै तो कालान्तरमें केवलज्ञान व यथाख्यात सर्वोत्तम चारित्रको प्रगट करके सूर्यके समान पूर्ण प्रकाशित होसकता है। यह ज्ञानकी महिमा है। दीपसमान होनेका और भी हेतु सुनियेः—

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन् कर्मकज्जलम् ॥१२१॥

अर्थः—ज्ञानकी आराधना अथवा उपासना करनेवाला बुद्धिमान् साधु दीपकके तुल्य थोडेसे ज्ञान-चारित्रको धारण करके प्रकाशित होता

है; परंतु उतने ही गुणसे वह अपने तथा पर वस्तुओंके स्वरूपको निरनिराला प्रकाशित करता है।-दीपक जैसे अन्य वस्तुओंको प्रकाश-गुण हीन, निस्तेज ऐसा दिखाता है व अपनेको प्रकाशगुणसे पूर्ण तथा सतेज ऐसा दिखाता है। वह दिखाता क्या है? वास्तवमें ऐसा ही है। इसी प्रकार साधु उस थोडेसे ज्ञान चारित्र गुणद्वारा भी शरीरादि पर वस्तुओंको जडरूप प्रतिभासित कराता है व आत्मस्वरूपको चैतन्य-पूर्ण प्रकाशमान ऐसा प्रतीत कराता है। थोडा ही क्यों न हो, पर जो सच्चा ज्ञान है उससे आत्मा तथा पर वस्तुओंमें जो यथार्थ भेद जड चैतन्यका है वह ज्योंका त्यों प्रतिभासित होना ही चाहिये।

दीपक जिस प्रकार काजलको अपनेमेंसे बाहिर करता हुआ प्रकाशको पसारता है उसी प्रकार कर्मरूप कज्जल या कालिमाको आत्मामेंसे बाहिर निकालता हुआ साधुका ज्ञान, स्वपरको प्रकाशित करता है। दीपकमें जो प्रताप है उसका काम काजलको बाहिर करना है और जो प्रकाश है उसका काम स्वपरको प्रकाशित करना है। इसी प्रकार आत्मामें जो चारित्र है उसका काम कर्मकालिमाको बाहिर निकालना है और जो ज्ञान-गुण है उसका काम स्वपरको प्रकाशित करना है। इस प्रकार यह दीपकके साथ पूर्णोपमा संभव होती है।

शुद्ध होनेका क्रमः—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः॥ १२२॥

अर्थः—जीवकी अवस्थाएं तीन हैं; एक अशुभ, दूसरी शुभ, तीसरी शुद्ध। विषयादिक मिथ्या जंजालमें फसकर रागद्वेष व अन्यायादिक करना वह अशुभ अवस्था है। इसीको तमोगुण या तामसी वृत्ति भी कुछ लोग कहते हैं। आत्मज्ञान होनेपर जो तामसी वृत्तिसे अथवा मिथ्या अनात्मीय विषयादिकसे हटकर साधुसमागम, धर्मोपदेश, मोक्षमार्ग, तप व तत्त्वज्ञानमें रुचि करना है वह शुभ अवस्था

है। इसीको कुछ लोग राजसी वृत्ति या रजोगुण कहते हैं। ऐसी शुभ अवस्था प्राप्त होनेपर जब जीवकी प्रवृत्ति आत्मतत्त्वकी तलासमें और भी अधिक झुकती है तब वह साधुसमागमादिक शुभ कामोंसे भी मनको हटाकर केवल निर्विकार शुद्ध आत्माके चिंतवन करनेमें लगा देता है। तब ईसीका नाम शुद्ध अवस्था है।

प्रीति या राग उत्पन्न होनेसे आत्मा संसारमें फसता है। इसीलिये राग द्वेषको बुरा व हेय माना जाता है। परंतु संसारविषयोंके रागसे साधुसमागम, तत्त्वज्ञानादि-संबंधी राग बहुत कुछ अच्छा है। यह राग ऐसा है कि अपने विषयमेंसे भी रागको एक दिन नष्ट कराकर आत्माको शुद्ध अवस्थामें पहुचा देता है, जहां कि किसी बातका संकल्प नहीं रहता, तथा भीतरी आत्मतत्त्वके अवलोकनके सिवा बाहिरी बुरी भली सभी चीजोंसे मन एक-दम हटजाता है। इसीलिये संसारविषयसंबंधी रागको अशुभ व अन्धकारके तुल्य कहा है और तत्त्वज्ञानादिसंबंधी रागको शुभ कहा है। क्योंकि, यह आगे चलकर जीवकी परिणतिको शुभ कर देता है।

जैसे सूर्यमें लाली प्रातःकाल भी होती है व संध्याकाल भी होती है। लालिमा दोनो एकसी ही दीख पडती हैं। परंतु संध्याकालकी लालिमा कुछ ही आगे चलकर सूर्यको अँधेरेमें पटक देती है, जगमें अँधेरा ही अँधेरा छादेती है। इसलिये वह अत्यंत निकृष्ट लालिमा है। परंतु प्रातःकालकी लालिमा ऐसा नहीं करती है। वह कुछ ही देरवाद सूर्यको अत्यंत शुद्ध प्रकाशमान बना देती है, जगमें भी प्रकाश ही प्रकाश फैला देती है। इसीलिये वह लालिमा बुरी नहीं है। क्योंकि, वह सूर्यको शुद्ध बनानेवाली है। उस लालीके वाद सूर्य अंधकारमें फसता नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानादिकमें राग उत्पन्न होनेसे जीव संसार विषयसंबंधी अशुभ रागवासना छोडकर शुभमें प्रवेश करता है और वही राग आगे चलकर जीवको शुद्ध बना देता है। इसलिये वह राग

बुरा नहीं है किंतु अच्छा है-ग्रहण करने लायक है। और इसीलिये साधुओंको तत्त्वज्ञान, श्रुतज्ञान तथा शास्त्राध्ययनादिमें प्रीति रखकर ज्ञान संपादन करना चाहिये। इसमें प्रीति रखना बुरा नहीं है। इसी बातको और भी स्पष्टतया कहते हैं। देखियेः—

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

अर्थः—तप व श्रुतज्ञानके विषयमें उत्पन्न हुआ राग, संसार-विषयसंबंधी अंधकारसदृश अशुभ रागका नाश करनेवाला है। इसीलिये वह जीवको स्वर्ग मोक्षादिके उत्तम फल देनेवाला है, सच्ची आत्मीय संपत्तिको बढानेवाला है, आत्माको शुद्ध बनानेवाला है। तब फिर ऐसे रागको उत्तम ही कहना चाहिये। जैसे सूर्यकी प्रातःकालसंबंधी लालिमा आगे चलकर सूर्यके प्रकाश व तेजको बढानेवाली है, सूर्यको शुद्ध बनानेवाली है। इसलिये वह लालिमा सायंकालकी लालिमाकी तरह सूर्यकेलिये अहितका कारण नहीं है किंतु हित-साधक है और इसीलिये वह ग्राह्य है। इसी प्रकार तप व श्रुतज्ञान-शास्त्राध्ययनमें साधुओंको प्रीति बढानी चाहिये। वह कालान्तरमें हितसाधक होती है।

जो इस प्रकार ज्ञानाराधन नहीं करते उनकी दशा आगे दिखाते हैं।

अशुभ रागका दृष्टांतसहित फलः—

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

अर्थः—सूर्य जब कि मध्यान्हके पसरे हुए शुद्ध प्रकाशकी अवहेलना करके सामके समय उस रागमें फसता है कि जिससे आगे चलकर अंधकारमें गडप होना पडे, तब उसका उदय नष्ट हो जाता है, उसे अस्त होना पडता है।

इसी प्रकार जो संयमी साधु तत्त्वज्ञानादिक अभ्युदयके कारणभूत विषयोंमेंसे तो अपनी प्रीति हटाता हो और तामसी वृत्तिको उत्पन्न

करनेवाले विषयोंमें प्रीति करने लगा हो तो वह साधु अवश्य अज्ञान-मोहादिक अंधकारमें फसकर नरकादिके दुःखोंमें जाकर पडता है।

भावार्थः—सूर्यकी प्रातःकालसंबंधी लालिमा सूर्यके उदयका कारण है, और संध्याकालसंबंधी अंधकारमें फसाकर उसे गिरादेनेवाली है। क्योंकि, पूर्ण प्रकाशरूप शुद्ध अवस्थाको पाकर भी उससे विमुख होकर जो रागान्ध बनता है उसने पाया हुआ उदय हाथसे खो दिया, यों कहना चाहिये। इसीलिये उसकी दुर्दशा होना, हीन दशामें पडना साहजिक बात है। इसी प्रकार साधु भी जो तत्त्वज्ञानादिक अध्यात्म प्रकाशमें साक्षात् पहुचकर उससे विमुख होकर संध्यारागकी तरह मोह अज्ञान उत्पन्न करनेवाले विषयरागमें आसक्त होता है उसकी दुर्गति होना साहजित बात है। किंतु जो अध्यात्म विचार तथा श्रुतज्ञानादिकमें प्रीति करता है, जिससे कि आत्माकी साक्षात् शुद्धि प्राप्त होकर संसार-क्लेश नष्ट होनेवाले हैं और आत्मीय प्रतिबोध तो जिससे तत्काल ही प्राप्त होता है; वह प्रीति उस साधुकेलिये आत्मोदय या शाश्वत सुखका कारण है। यह प्रीति सूर्यकी प्रातःकालसंबंधी लालीके तुल्य है। इससे उदय व पूर्ण प्रकाश क्यों न उत्पन्न हो?

यद्यपि शुद्ध दशा प्राप्त हो जानेपर आगामी उदय बढानेवाला प्रातःकालकी लालिमातुल्य जो शुभ राग है वह भी त्याज्य है परंतु जबतक शुद्ध दशा प्राप्त नहीं हुई हो तबतक वह ग्राह्य भी है। और जो संध्याकालके रागतुल्य विषयसंबंधी रागभाव है वह सदैव अहितकारी है, पापकर्म बढानेवाला है। इसलिये सदा ही हेय है। किसी समय भी वह ग्रह्य नहीं होसकता है। चारो आराधना पूर्ण हो चुकनेपर फल?—

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं,
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गो गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहलं[१]श्छाया दया भावना,
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

---

१ 'बहुल' ऐसा भी पाठ है।

अर्थः—जब कोई मनुष्य कहीं जानेकेलिये निकलता है तब उसे बहुतसी चीजोंकी जरूरत लगती है। वे सभी चीजें जब ठीक ठीक मिलती हैं तो वह मनुष्य बडे आरामके साथ अपनी जगहमें पहुच जाता है, नहीं तो नहीं। वे चीजें इतनी हैंः— १ रास्ता दिखानेवाला, २ एक कोई साथदार, ३ कुछ खर्चा व टोसा वगैरह, ४ सवारी, ५ वीचमें ठहरनेकेलिये पडावकी जगह, ६ रखवाले, ७ रास्ता सीधा, ८ रास्तेके बीचमें जगह जगह पानी व छायाका रहना। ये आठ बातें रास्तागीरको बहुत ही जरूरी हैं। यदि इन आठों बातोंकी योग्यता रहै तो अभीष्ट स्थानको पहुचनेमें कोई भी हरकत पैदा नहीं होसकती है।

अब यहां साधुको रास्तागीर समझिये। वह मोक्षको पहुचना चांहता है। इसलिये उसे भी इन आठो बातोंका सुभीता करलेना चाहिये। यदि यह सुभीता हुआ तो उसके मोक्ष पहुचनेमें कुछ भी संदेह व बाधा नहीं रहती। उन आठोंमेंसे १ मार्ग दिखानेवाला तो सम्यग्ज्ञान होना चाहिये। उसके होनेसे मार्गके सभी बाधकोंकी खवर ठीक ठीक पडती रहती है। और जब कि सम्यग्ज्ञान हुआ तो सम्यग्दर्शन तो हुआ ही समझना चाहिये। क्योंकि, इसके विना सम्यग्ज्ञान अकेला रहता ही नहीं है। इस प्रकार ये दोनो मार्ग दिखानेवाले हुए। २ धर्मकी लाज या विनय, यह साथीदारका काम देनेवाली है। ३ बहुतसा जो तप किया है वह मार्गमें खर्चेका व टोसा वगैरहका काम देता है। ४ चारित्रसे पालखी या सवारी-का काम पूरा होता है। ५ वीचमें ठहरनेकेलिये पडाव बहुत ही सुंदर स्वर्ग-स्थान है। ६ उत्तम-क्षमादि अनेक जो श्रेष्ठ गुण हैं उन्हें रखवाले समझिये। ७ कपट व माया-मिथ्या-निदानरूप तीन शल्योंको छोडनेसे मोक्षका मार्ग सीधा-सरल हो जाता है। ८ रागादि परिणामोंका उपशम या अभाव रहनेसे जो मनमें निर्मलता बढती है वह ओतप्रोत जगह जगहपर जल भरा हुआ है और दयाकी लह लहाती हरी भरी डालियां वहांपर छाया दे रही हैं। मोक्ष प्राप्तिकेलिये ऐसा प्रयाण यदि

किया जाय तो वह साधुको निष्कंटक अवश्य अपने अभीष्ट मोक्षस्थानको पहुचा सकता है। इन आठो बातोंमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र व तप ये चार मुख्य साधन हैं और बाकी इन्ही चारोंके अंग उपांग हैं। इसलिये यदि उक्त चार आराधनाओंको ही मोक्षप्राप्ति करादेनेवाले मुख्य कारण कहें तो भी ठीक ही है। मोक्ष प्राप्त होनेमें बाधकः—

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं,
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मास्म गाः ॥१२६॥

अर्थः—हमने अच्छी तरह देखलिया कि जिनके देखनेमात्र विष चढ जाता है ऐसे दृष्टिविष जातिके सर्प भी होते हैं यह कहना सर्वथा झूंठ है। असली दृष्टिविष सर्प स्त्रियां हैं कि जिनके आधे उघडे हुए नेत्र ही कामवेदना उत्पन्न करके मनुष्यके सर्वाङ्गको जलाने लगते हैं। इसीलिये उन स्त्रियोंके वशीभूत सारा ही जग होरहा है। जो उनसे विरुद्ध होना चाहता है उसपर उन्हें क्रोध आता है और वे उसे हर तरह अपने वश करनेकी चेष्टा करती हैं तथा दुःख देती हैं। तू भी उनसे विरुद्ध हुआ है इसलिये तेरे ऊपर भी वे क्रुद्ध हुई हैं और अपने विषका असर डालनेकेलिये फिर रही हैं। ये स्त्रियां असली विष हैं। तू इनके दृष्टिगोचर हुआ कि उस विषने तेरे ऊपर असर किया। और इस विषका नतीजा इतना ही है कि जीव विषयोंमें मोहित होकर मोक्षमार्गसे पतित होजाता है। इसलिये यदि तुझे मोक्षमार्गमें रहकर मुक्ति प्राप्त करना है तो उनके दृष्टिगोचर कभी मत हो। यह एक मुख्य बाधक कारण मोक्ष प्राप्त करनेवालेकेलिये समझना चाहिये। क्योंकि, ये स्त्रियां सर्पसे भी अधिक भयंकर हैं। देखोः—

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्,
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः।

हन्युः स्त्रीभुजंगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा,
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥

अर्थः—सर्प कभी क्रुद्ध हो तो कदाचित् प्राण लेता है और वह भी मनुष्यको काटसकै तो। यदि काटनेका मौका न मिलै तो क्रुद्ध होनेपर भी कुछ कर नहीं सकता है। और फिर भी उसका विष दूर करनेकी ऐसी औषधियां मिलती हैं कि जिनसे तत्काल विष दूर होजाय। और सर्प कभी एकाध वार किसीको काटते होंगे। हरएक मनुष्यको सर्प काटते नहीं फिरते हैं। परंतु स्त्री, यह ऐसा सर्प है कि इसने जीवोंको अनादि कालसे आजतक सदा डसा है और अब यहां भी डसती हैं। क्रुद्ध होनेपर भी डसती हैं; प्रसन्न रहनेपर भी डसती हैं। बडे बडे योगीश्वरोंको भी डसती हैं। इनके काटनेसे कोई भी जगवासी बचा नहीं है। इन्हें जो देखले उसे भी इनका विष चढता है और ये जिसे देखलें उसे भी विष चढजाता है। और इनका विष इतना उग्र है कि उसके दूर करनेवाली जगमें कोई औषध ही नहीं है। पर तो भी मनुष्य जितने सर्पोंसे डरते हैं उतने स्त्रियोंसे नहीं डरते, यह उनकी भूल है। स्त्रियोंके देखनेमात्र उनका विष चढता है इसलिये ये स्त्रियां ही सबसे अधिक भयंकर सर्प हैं कि जिनकी काम-विषबाधा शरीरमें, मनमें भिदनेपर कोई उपायतक चलता नहीं है।

इसके सिवा सर्पोंसे यह एक बात स्त्रियोंमें और भी अधिक है कि वे क्रोध आनेपर तो अनेक तरह मारनेका प्रयत्न करती ही हैं किंतु प्रसन्न रहनेपर भी मनुष्योंको मार ही डालती हैं। क्रुद्ध हों तो विष देकर, दूसरे किसी मनुष्यसे झगडा कराकर अथवा अन्य किसी उपायसे मनुष्यको मारडालती हैं। क्रोधमें आकर इनका मारना तो वैसा ही समझना चाहिये जैसा कि हर कोई एक दूसरेको द्वेषसे मारता है। परंतु प्रसन्न होकर भी ये मारती हैं यह आश्चर्य है। प्रसन्न होनेपर मनुष्य इनके मोहमें फसता है, इनके वशीभूत होजाता है; जिससे कि इनकी

---

१ वचनमतन्त्रमविवक्षितत्वात्।

सुश्रूषा करनेमें व विषयभोगकी पूर्तिकेलिये धन कमाने आदि आकुलताओंमें मनुष्यको व्यग्र होना पडता है। मनुष्य इसमें इतना व्यग्र होता है कि अपने सुखकी कुछ परवाहतक नहीं रहती। इसीसे इसमें फसे फसे जन्म बितादेता है, रोगी हो जाता है, मानसिक व्यथाएं बढनेपर मरतक जाता है। संपूर्ण शरीरका मुख्य आश्रयभूत जो वीर्य उसका विषयभोगमें क्षय होनेसे मरण हो जाना तो साधारण बात है। इस प्रकार स्त्रियां प्रसन्नता व क्रोध इन दोनो अवस्थाओंमें मनुष्यके प्राण हरनेवाली हैं। इनके संबंधसे आकुलता बढनेसे व मोहित होनेसे मनुष्य अपने आत्मकल्याणका मार्ग शोध भी नहीं सकता है। यदि समझले तो भी उस मार्गमें चल नहीं सकता है। इसलिये कल्याणसे वंचित रह जाता है। यह भी एक मरण ही समझना चाहिये।

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं,
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं,
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

अर्थः—यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो संसारकी स्त्रियोंका संबंध छोडदे। क्योंकि मुक्तिको भी एक स्त्रीके तुल्य ही समझना चाहिये। स्त्रियोंमें परस्पर ईर्ष्या रहती है। कोई भी स्त्री अपने पुरुषके साथ किसी दूसरी स्त्रीका संबंध पसंद नहीं करती। वह पुरुष यदि दूसरी स्त्रीके साथ स्नेह करता दीखै तो वह उसे छोड देती है। मुक्तिका भी यही स्वभाव है। यह दूसरी स्त्रियोंके साथ मोक्षप्रेमी पुरुषको प्रेम नहीं करने देती। यदि वह दूसरी तरफ प्रेम करता है तो यह उसे छोड देती है। ठीक ही है, जो जीव संसारके स्त्रीपुत्रादिमें आसक्त होगा उसे मुक्ति कहांसे प्राप्त होगी ?

यह मुक्ति एक उत्तम सुंदर सती स्त्रीके तुल्य है। सुंदर सती स्त्रीको दुर्लभ्य समझकर सभी कोई प्रेमपूर्वक देखते हैं। मुक्तिको भी

जो अनुपम सुखका कारण समझ चुके हैं वे अति प्रेमके साथ चांहते हैं। सती स्त्री व्यभिचारी जनोंको अलभ्य होती है। मुक्ति भी उसे अलभ्य समझनी चाहिये कि जो अनेक अन्य संसारकी स्त्रियोंमें प्रेम कर रहा हो। संसारकी स्त्रियां धन रूप वगैरह देखकर प्रेम करती हैं पर मुक्तिका प्रेम सद्गुण देखकर होता है। अर्थात् इसका लाभ धनके या शरीरसंबंधी पराक्रमादिके होनेसे इतर स्त्रियोंकी तरह नहीं होसकता है। ज्ञान चारित्रादि गुणवाला पुरुष ही इसे पसंद पडता है।

यदि तुझे इसकी सच्ची चांह है तो तू ज्ञान चारित्रादि आभूषणोंको धारण कर। स्त्रियां आभूषणोंके विना वश नहीं होती हैं। मुक्तिकोलिये ज्ञान चारित्रादि सद्गुण ही आभूषण हैं। इन आभूषणोंसे मुक्तिको प्रसन्न कर और उसीमें केवल प्रेम उत्पन्न कर। इस प्रकार तू यदि अन्य स्त्रियोंका सहवास छोडकर इस मुक्तिकी आराधना करेगा तो मुक्ति तेरी अवश्य हो जायगी। भावार्थ इतना ही है कि, जीवोंको मुक्ति प्राप्त करनेमें स्त्रियोंके साथका प्रेम ही एक बडा प्रबल बाधक कारण है। इसलिये उस बाधक कारणको हटाना सबसे प्रथम आवश्यक है। एक मनुष्य संसारसे प्रेम रखता हुआ मुक्तिका भी प्रेमपात्र बनै यह बात संभव नहीं है।

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै,—
र्वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेपि पिपासवो,
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः॥ १२९॥

अर्थः—स्त्रियां एक सरोवरके तुल्य हैं। सरोवरमें स्वच्छ जल भरा रहता है, वीच वीचमें लहरें उठा करती हैं, कमल फूले रहते हैं। भीतर मगरादि भयंकर जंतु भी छिपे रहते हैं, जो मौका पाकर मनुष्योंको निगल जाते हैं। परंतु उनके सपाटेमें आते वे ही मनुष्य हैं जो ऊपरी मनोहर दृश्य देखकर उसके देखनेमें लुब्ध हुए वहां जाकर

किनारेपर खडे होते हैं । और जो यह नहीं समझते हैं कि गहरे पानीमें कहीं कहींपर मगर रहते हैं जो कि आदमियोंको गिल जाते हैं । जो पानीके भीतरी इस छिपे हुए धोखेको समझते हैं वे वहां खडे भी नहीं होते हैं ।

इधर स्त्रियोंमें भी यही बात है । वे जो वचन बोलती हैं वह जल समझना चाहिये । बडे बडे सरोवरोंका जल अतिस्वच्छ रहता है । इनके वचनोंमें भी साथ ही साथ मंद मंद हास्य उत्पन्न होता है जो कि अतिस्वच्छ जान पडता है । कवियोंने हास्यका वर्णन स्वच्छ ही माना है । इस वचनके वीचमें लहरोंके समान अतिचंचल विनश्वर विषयसुख प्रगट होता रहता है । स्त्रियोंके मुख तो कमलोंके समान माने ही जाते हैं । इसलिये कमलोंकी भी यहां कमी नहीं है । इस प्रकार स्त्रियोंका बाहिरी स्वरूप ठीक सरोवरोंके ही तुल्य रमणीय रहता है । पर साथ ही जो सरोवरोंमें जलचर जीवोंका संचार रहता है वह भी यहां कम नहीं है । इंद्रियोंके विषय मगरादि जलचर प्राणियोंसे भी अधिक भयंकर हैं; जो कि स्त्रियोंके साथ पूर्णतया वास करते हैं, उनके भीतर छिपे हुए सदा मुख फाडे हुए तयार रहते हैं । जो भोले मनुष्य केवल बाहिरी सौन्दर्य देखकर उनके पास जाकर अपनी तृप्ति करना चाहते हैं वे जाते ही उनमें ऐसे गडप होते हैं कि फिर बाहिर वचकर नहीं आसकते हैं; उन्हींके भीतर प्राण गमाते हैं । आत्मकल्याणसे वंचित होकर वे दुर्गतिके पात्र बनते हैं ।

अर्थात्, विषयसुखोंमें मग्न होनेवाले मनुष्य, आत्मबल व ज्ञानादि आत्मीय संपत्तिको खो बैठते हैं; जो कि मरनेसे भी अधिक अनिष्ट है । इसलिये आत्माकी सर्वोच्च उन्नति करनेवाले व मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको स्त्रियोंके बंधनसे वचना चाहिये । स्त्रियोंका सहवास करना मानों एक जंजालमें फसना है । अथवा, जैसे गोरखधंदा ऊपरसे देखनेपर सीधासा दीख पडता है पर उससे हाथ लगाया कि उसमें और

भी अधिक फंदे पडजाते हैं। ठीक इसी तरह, स्त्रियोंके बाह्य रूपको सुंदर रमणीय व सरल सीधा देखकर जो मन प्रसन्न करनेकेलिये हाथ लगाते हैं वे फिर वहांसे छुटकारा नहीं पासकते हैं। ऊपरसे जैसा वह रूप उन्हें सीधासा दीखता था वैसा ही भीतरसे अधिक दंद-फंदसे भरा हुआ दीखने लगता है। उस समय उनकी हालत ' भई गति सांप-छछूदरकीसी ' ऐसी हो जाती है।

इनके भी पास जाकर फसते कोन हैं? वे ही, जिनमें कि बुद्धि नहीं है। अति मूर्ख मनुष्य स्त्रियोंके सुन्दर अंगोंको देखकर मोहित होते हैं, उनके हृदयमें कामवासना उत्पन्न होती है। इसीलिये उनके साथ प्रेम करना चाहते हैं। परंतु वे यह नहीं समझते हैं कि इनके शरीरके भीतर प्रचंड काम वैठा हुआ है। स्पर्श किया या उनकी तरफ देखा भी कि वह अपने पंजोंसे झपटकर हमें ऐसा दवावेगा कि फिर वहांसे छूटना असंभव है। यह समझ न होनेसे विचारे भोले जीव स्नेह व उन्माद-तृष्णाके वशभूत होकर उन स्त्रियोंको अपनाना चाहते हैं और इस इच्छासे वहां जाते हैं कि हमारी यह कामतृष्णा पूर्ण होगी। परंतु वहां जाते ही परवश पड जाते हैं, अपने कल्याणके शेष सारे काम छोड वैठते हैं; उन विषयोंमें विह्वल व अचेत हो पडते हैं। और जो यहांके भयंकर इंगितको समझते हैं वे वहां जाते ही नहीं। वहां न फसकर अपने कल्याणमें लगते हैं। और जो उसमें न फसकर अपने हित साधनेमें सावधान रहते हैं वे ही दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त करते हैं।

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥१३०॥

अर्थः—काम, यह सारे शिकारियोंका राजा है और इंद्रिय उसके सेवक हैं। जब कि काम स्वयं शिकारियोंका राजा है तो सेवक

तो शिकारी होने ही चाहिये। ये सेवक अत्यंत दुष्ट, क्रूर, पापी, भयानक, क्रोधके आवेशमें भरे रहते हैं। इनका काम है कि शिकारको घेर घेर कर अपने स्वामीके पास लावें। शिकारको पकडनेकी जगह स्त्रीको बना रक्खा है। कपटसे इस स्त्रीकी आकृति ऐसी बनाई है कि देखनेसे वह सुख प्राप्त होनेकी जगह भासने लगती है। इस शिकारीकेलिये जगके सारे ही जीव हरिण या शिकार हैं। जब शिकार यों हात नहीं आती तब शिकारके छिपनेके बिडोंके आस पास शिकारी लोग आग लगा देते हैं। तब विचारी शिकार डरकर घवराकर निकल भागती है। वस, वे शिकारी घेरकर पकडनेकी जगहमें रेटकर लेआते हैं जहांसे कि फिर वचना असंभव होता है। ये इन्द्रिय शिकारी भी जगवासी जनोंके चौगिर्द आगके समान विषयसंबंधी रागभाव उद्दीप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। जब जीव अनेक प्रकारके विषयोंको देख देखकर रागके वश दुःखी हो जाते हैं तो स्त्रीके शरीरको विश्रामका स्थान समझकर वहां आफसते हैं। वस, वह तो उनके बध होनेका ही स्थान है। वहां आये कि काम-व्याध अपने संमोहनादि तीक्ष्ण बाणोंसे ऐसा उन्हें जर्जरित करता है कि वे अपने चेतनाको ठिकाने नहीं रख सकते। ऐसी अवस्थामें वे विचारे जीव शुद्ध चैतन्य प्राणोंको खोकर नरकादि कुगतियोंमें जन्म लेते हैं; जहांसे दुःखका पार पाना अति कठिन है। भावार्थ, जीवोंको कुगतियोंमें पहुचाकर दुःख देनेका कारण स्त्री है। इसलिये आत्मकल्याणकी इच्छा करनेवालोंको इनसे वचना चाहिये। इनमें फसना हो तो कल्याणकी आशा छोड देनी चाहिये।

तपस्वी होकर विचालित होनेबालोंको समझाते हैं:—

अपत्रप तपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजासि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तादिह ताः स्फुटं बिभ्यति॥ १३१॥

---

१ काकुवचनमिदम्। प्रयोजकप्रयोगोपि वाक्यसौन्दर्यवशात्प्रयोज्ये आनीय व्याख्यात इति न दोषाय।

अर्थः—अरे निर्लज्ज, तू तपस्वी बनचुका है[1]। एक तो तुझे अपने पदकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। दूसरें, यदि तेंने चांहा भी तो भी स्त्रियां तुझे कब पसंद करेंगी? तू अपने शरीरकी तरफ तो देख। तप करते करते तेरा शरीर अग्निसे झुलसकर आधे जले हुए मुर्देकी तरह दीखने लगा है। देखते ही भय उत्पन्न होता है। भय उत्पन्न कदाचित् किसीको न हो तो भी देखते ही ग्लानि हुए विना तो रहेगी नहीं। ऐसे शरीरको देखकर स्त्रियां क्या डरेंगी नहीं? अवश्य डर जायंगी। स्त्रियां सहज ही भयभीत होती हैं। इसलिये तेरा शरीर देखकर वे अवश्य डरेंगी। तब? फल क्या होगा? तू उनके साथ प्रेम करने जायगा और वे तुझे देखना भी पसंद नहीं करेंगी। या तो तेरा अपमान करके तुझे हटा देंगी; नहीं तो वे कहीं छिप जायंगी। इससे होगा क्या? तेरा मतलब तो सधेगा नहीं, उलटा अपमान सहना पडेगा। जब कि यह बात है तो व्यर्थ उनके साथ प्रेम उत्पन्न कर तू क्यों लज्जित बनना चाहता हैं? क्यों अपने आत्मकल्याणको भी हाथसे खोता है? इतने उत्कृष्ट पदको क्यों निष्कारण बट्टा लगाता है? होना जाना तो कुछ है ही नहीं।

३ श्लोकोंमें स्त्रियोंके अंतरंग दोषः—

उत्तुङ्गसंगतकुचाचलदुर्गदूर,—
माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम्।
रोमावलीकुसृतमार्गमनङ्गमूढाः,
कान्ताकटीविवरमेत्य न[2] केत्र खिन्नाः॥ १३२॥

अर्थः—स्त्रियोंके अति उन्नत कठोर जो कुच हैं वे मानो पर्वतोंपरके किले हैं। अरे भाई, कामी पुरुषोंको स्त्रियोंका योनिस्थान ही

१ तपस्वी होकर जो फिर स्त्रीमें मोहित होने लगा हो उसके लिये यह उपदेश है। संभव है कि जिनकेलिये यह ग्रंथ उद्देश करके बनाया है वे महात्मा ही शायद स्त्रियोंमें या अपनी स्त्रीमें पुनः प्रेम प्रगट करने लगे हों। नहीं तो ठीक साधुको संबोधकर कहनेकी ऐसी जरूरत कम थी।

२ अत्रापि काकुः। तेन 'सर्वेप्यत्र स्थाने आगत्य खिन्ना भवन्त्येव' इत्यर्थो ग्राह्यः। 'केऽर्थखिन्नाः' इत्यपि पाठोऽस्ति। तत्र अर्थैः प्राणैः खिन्नाः के न भवन्तीत्यर्थोवसीयते।

सबसे अधिक प्रिय होता है। वही उनकेलिये काम सेवनका अंग है। पर उन्हें ये कुच बीचमें ऐसे आड आते हैं कि जैसे किसी शत्रु-राजा को जीतकर पकडनेके बीचमें उसका पर्वतपरका दुर्भेद्य किला। यदि वह किला पार न हो तो शत्रु–राजातक पहुचना अति कठिन हो जाता है। सिवा इसके, योनिस्थानके पासमें ही त्रिबलीरूप नदियां बह रही हैं। इनका पार होना भी कठिन है। ये दुष्कर्म करनेवालेके आड आती हैं। इसके भी सिवा जो आस-पास बहुतसे रोम उठे रहते हैं वे भी योनिस्थानतक पहुचनेमें ऐसे आड आते हैं कि जैसे किसी स्थानके बीच मार्गमें सघन ऊगे हुए वृक्षोंके झुंड तहांतक पहुचनेमें किसीको आड आते हों। अब कहिये, वहांतक यदि कोई मनुष्य किसी तरह पहुच भी जाय तो भी क्या खेदखिन्न न होगा? इस प्रकार देखनेसे इस कामकुचेष्टाके करनेमें अनेक खेद ही खेद जान पडते हैं। तो भी इस सब दुःखकी परवाह न करके जो इस कुचेष्टामें प्रवृत्त होते हैं, कहना चाहिये कि वे कामकी तीव्र वेदनासे विह्वल हो रहे हैं। इसलिये उन्होंने इन दुःखोंका विचार नहीं किया है। जो बुद्धिमान हैं वे ऐसे दुःखोंके बीच कभी नहीं फसते हैं।

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य,
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र,—
माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥ १३३ ॥

अर्थः—वीर्य एक निन्द्य व ग्लानि उत्पन्न करनेवाली चीज है। इसीलिये इसकी कदर कूडे कचडेकीसी व मलमूत्रकीसी समझना चाहिये। स्त्रियोंकी योनि, जिसे कि कामीजन पसंद करते हैं वह है क्या हैं? मलमूत्र या कूडा-कचडा डालनेकी जगह है। अथवा, कामकी तीव्र वेदना होनेपर मनुष्य संभोग करते हैं इसलिये लिंग मानो एक काम देवका शस्त्र है कि जिसे वह उद्वेगमें आता है तब फेंकता है। जब

कि ऐसा है तो योनि मानो उस शस्त्रका आघात होनेसे विदीर्ण हुई घावकी जगह है ।

अथवा, यह मोक्षरूप ऊचे पर्वतपर चढनेवालोंको गिरादेनेवाला खड्डा है । पर्वतोंके आजू–बाजुओंमें जो कहीं कहींपर बडे बडे खड्डे होते हैं उनमें गिरजानेपर मनुष्य फिर वहांसे पर्वतकी चोटीतक नहीं पहुच पाता । इसलिये उन खड्डोंसे सभी रास्तागीर वचकर निकलते हैं। मोक्ष-पर्वतपर चढनेकेलिये निकले हुए जीवोंकेलिये यह भी एक वहां-तक पहुचनेसे रुकावट करनेवाला खड्डा है । जो मोक्ष पहुचना चाहते हैं वे इस खड्डेसे बहुत ही बच करके निकलते हैं । नहीं तो यदि, इस खड्डेमें पडजांय तो फिर वहांसे मोक्षतक पहुचना कैसा ?

अथवा, काम यह एक बडा भयंकर सर्प है । योनि, यह उसके रहनेका बिल है। जो मनुष्य इसमें क्रीडा करना चाहता है उसे यह भीतर बैठा हुआ काम–सर्प अवश्य डसता है । इसीसे तो कामी मनुष्य विह्वल होते हैं व हिताहितके विचारसे शून्य होते हैं, मोहित होते हैं ।

विद्वान् मनुष्योंने अनेक प्रकारकी तर्कणा करके यह बात तय की है कि स्त्रियोंके साथ रति करनेसे ये दुःख होते हैं और स्त्रियोंका योनि-स्थान इस प्रकार दुःखका निदान कारण है । और भी देखियेः—

अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा ।
प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो,
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥१३५॥

अर्थः—जो विचारे धर्मसे वंचित हैं वे आत्मकल्याणकी इच्छासे यदि तपोवनमें भी जाचुके हों पर वहां भी उन्हें काम सताता ही है । वहां भी वे स्त्रियोंके योनिस्थानमें जाकर पडते ही हैं । क्यों न हो ? जब वे विषयोंसे सताये जाते हैं तब वे परवश उधर खिचते हैं ।

इसीलिये विचारे तपोवनोंमें रहकर भी स्त्रियोंको छोड नहीं सकते हैं। जैसे वनोंमें विचरनेवाला हस्ती, जब विषय उसे सताते हैं तब अपने ही पकडनेकेलिये बनाये हुए खड्डेमें विषयोंके वश जाकर गिर पडता है। क्या उसे वहां कोई खींचकर डालता है? नहीं, अपने आप ही उसमें विषयोंके पराधीन होकर जा पडता है।

मनुष्य तो विना प्रेरणा व विना उपदेशके ही इस प्रकार स्त्रियोंमें आसक्त होकर हित साधनेसे भ्रष्ट होरहे हैं। किंतु इतनेपर भी बहुतसे कुकवियोंने उलटी इसकी प्रशंसा की है। जिस योनिमेंसे मनुष्य जन्म लेता है वह योनि मनुष्यकी जननी कहनी चाहिये। पर उसीमें प्रीति करनेको जो कवि उत्साहित करते हैं उनकी नीचताका क्या ठिकाना है? ऐसे ही नीच मनुष्योंके वचनोंसे जग फस रहा है। हमारा अनुमान है कि यदि ऐसे मनुष्योंके उपदेश जीवोंको सुननेमें न आये होते तो जीव ऐसे निकृष्ट स्त्रियोंके शरीरमें प्रेमके बलि होकर न पडते। यह सब दुष्ट प्रवृत्तिका प्रचार उन्हीं नीच जनोंकी निरर्गल वासनाओंसे तथा उपदेशोंसे हुआ है। इन ठगोंके बहकानेमें कभी किसीको न पडना चाहिये। स्त्री, विषसे भी अधिक दुःखदायक है। देखोः—

कण्ठस्थः कालकूटोपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥१३५॥

अर्थः—लोग कालकूट नामके विषको बडा ही जालिम बताते हैं। उसे खाते ही मनुष्य प्राणान्त होता है। साथ ही इसके कुछ लोग यह भी कहते हैं कि महादेवने अपने गलेमें उसे बहुत दिनोंतक इसलिये रक्खा कि वह बहुत जालिम है। लोगोंको इससे दुःख न हो। जब यह लोकमें रहेगा ही नहीं तो लोगोंको इससे दुःख भी कैसे होगा? गलेमें उसे रखते हुए भी महादेवको उससे कुछ पीडा नहीं हुई। इससे मालूम होता है कि शक्तिशाली मनुष्योंपर उसका असर न पड पाया।

यह सब ठीक, परंतु इतने बडे शक्तिशाली होकर भी महादेव स्त्रियोंके वश तो हो ही गये। उनकी स्त्री पार्वतीने उन्हें जैसा चांहा नचाया। और भी उनकी दुर्दशा स्त्रियोंद्वारा क्या हुई वह सब ग्रन्थोंसे प्रसिद्ध होती है। अब कहिये, जालिम विष कालकूट रहा कि स्त्रियां? स्त्रियां सबसे अधिक विकट विष हैं। उनके सामने कालकूट विष कोई चीज नहीं है। इनके सहवाससे मनुष्य जीता रहकर भी आत्मकल्याणकेलिये मृतक सदृश बन जाता है। इसीलिये जो कल्याण करलेनेकी इच्छा रखते हों वे चांहे कालकूटसे न डरैं पर स्त्रियोंसे अवश्य डरना चाहिये।

इस प्रकार देखनेसे स्त्रीके साथ प्रीति करना मानो मोक्षमार्गसे पराङ्मुख होकर संसारमें फसना है। तो भी कुछ लोग इसमें प्राणियोंको फसानेकेलिये स्त्रीको अनेक प्रकारसे हितावह बनाना चाहते हैं। लोगोंकी इसमें रुचि उत्पन्न हो इसकेलिये संसारके उत्तमसे उत्तम वस्तुओंसे इसे बढकर ठहरानेका प्रयत्न करते हैं: अनेक उत्तम वस्तुओंकी इससे तुलना कर दिखाते हैं। देखोः—

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत् ।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुपदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥१३६॥

अर्थः—स्त्रियोंका शरीर, है तो सारे दोषोंकी असली खान; तो भी विषयासक्त मनुष्य इसके एक एक अंगको चंद्रादिके तुल्य उत्कृष्ट समझते हैं और ऐसा कहकर दूसरे भोले मनुष्योंको बहकाते हैं। मुखको अति आनंददायक होनेसे चंद्र समझते हैं। मांसपिंडमय स्तनोंको सुवर्णके या अमृतके भरे हुए कलश कहते हैं। कमलोंके तुल्य आंखोंको मानते हैं। दांतोंको हीरे समझते हैं। इस प्रकार उत्तमोत्तम पदार्थोंके तुल्य युवतीके शरीरको बनाकर लोगोंको फसाते हैं। लोग भी फसते हैं।

काम यह मद्यसे भी अधिक उन्माद बढानेवाला है, विवेकका भ्रंश करनेवाला है। इसीलिये जिनको कामने सताया हो उन्हें विवेक कहांसे होगा? यदि विवेक होता तो इतना विचार भी वे न करते कि हाड मांस आदि अपवित्र वस्तुओंसे बने हुए शरीरमें चंद्रादिकीसी योग्यता कहांसे आसकती है? अथवा, यदि चंद्रादिकोंके तुल्य होनेसे स्त्रीको प्रेमका पात्र मानना हो तो उन असली चीजोंसे ही क्यों न प्रेम करो। आखिरको वे असल हैं और यह उनके एक एक गुणकी ही तुल्यता रखती है। जिसका एक एक गुण स्त्रीमें रहनेसे स्त्री प्रेमका पात्र होसकती है उसके सर्व निर्दोष गुण जिसमें मिलते हों वह मुख्य पदार्थ ही क्यों न प्रेमका पात्र हो। सिवा इसके एक दो गुणोंकी तुलना रहते हुए भी जब कि वाकी अनेक दोष स्त्रीमें भरे हुए हैं तो वह प्रेमका पात्र कैसे बन सकती है? पर यह सूझता किसको है? कामान्ध हुए जनोंको यह विचार कदापि नहीं उठ सकता है। काम जीवोंको असली अंधा या विवेकशून्य बनानेवाला है। पर यह कामवेदना ज्ञानियोंको पैदा नहीं होती। देखो:—

प्रियामनुभवत् स्वयं भवति कातरं केवलं,
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३७॥

---

१ पन्नगवेणी चंद्र मु आनन कंचनकलस युगलकुचभार।
लट्टू कवि सब हुए जगतके देख मेरा यह रूप अपार॥

यह एक कविका वचन है। यदि सचमुचके चंद्रमा आदिकी ही आकृति मुखादिकी जगह बनादी जाय तो कुछ भी सुंदरता नहीं दीखती। एक तो इसलिये चंद्रादिकी उपमा केवल फसानेके सववसे दी जाती है। दूसरे, यदि चंद्रादिकी तुल्यता हो भी, तो भी इतनेसे उसमें प्रेमपात्रता क्यों होनी चाहिये? क्या पन्नग कोई रमणीय वस्तु है? इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि एकेक गुणके साथ उपमा है, नाकि सर्वथा। तो भी इतनेसे स्त्री प्रेमपात्र नहीं होसकती। जिन चीजोंकी इसे उपमा दी जाती है उन चीजोंसे ही प्रेम करना उत्कृष्ट तथा ठीक है। क्योंकि, वे असल हैं और यह केवल उनकी नकल है।

अर्थः—कितने ही लोगोंका यह कहना रहता है कि मन बडा ही बलाढ्य है। जब उसकी प्रवृत्ति विषयोंकी तरफ होने लगती है तब उसे कोई भी रोक नहीं सकता। इसीलिये चांहे स्त्रीका संबंध परिपाकमें दुःखदायक ही हो पर उससे निवृत्ति होना असंभव है। इस शंकाका उत्तरः—

जो स्त्रियोंको आप तो भोग न सकता हो किंतु दूसरोंको भोगते देखकर प्रसन्न होता हो और स्वयं भोग न सकने पर भी इच्छा भोगनेवालेसे भी अधिक रखता हो वह नपुंसक या हीजडा कहा जाता है। वह वास्तवमें कायर होता है। शूरताके काम उसके हाथसे कभी नहीं बन पाते हैं। यह बात जगप्रसिद्ध है।

मन, यह भी नपुंसक ही है। मन यह शब्द भी नपुंसक है व मन जिसको कहते हैं वह भी नपुंसक ही है। मनकी जितनी क्रियाएं हैं वे सब निस्सत्त्व नपुंसक प्राणियोंकीसी ही हैं। देखिये, आप तो यह स्त्रियोंको भोग भी नहीं सकता है। भोगनेवाले इंद्रिय दूसरे ही हैं। उन्हें देख-देखकर केवल प्रसन्न होता है। तो भी भोगनेकी इच्छा उन इंद्रियोंसे भी अधिक सदा बनी रहती है। इसलिये मन, यह केवल शब्ददृष्टिसे ही नपुंसक नहीं है किंतु काम भी इसके कुल निस्सत्व नपुंसकोंकेसे ही हैं। तब ? यह हर तरह नपुंसक ही समझना चाहिये। नपुंसकके हाथसे पुरुषार्थी पुरुष कभी जीता नहीं जासकता है। पुरुष क्या पुरुषार्थी है ? हाँ।

जो मोक्ष–पुरुषार्थमें लगनेवाला व उसको हितकारी समझनेवाला पुरुष है वही सच्चा विवेकी है और वही सच्चा पुरुष है। जब कि वह विवेकी है तो उसके हाथसे मोक्ष–पुरुषार्थकी सिद्धि होनी ही चाहिये। इस प्रकार जब कि वह पुरुष अपने यथार्थ कर्तव्यमें प्रवृत्त हो रहा हो और उस प्रवृत्तिमें इतना दृढ रहै कि विषयोंके संबंध उसे उस प्रवृत्तिसे डिगा न सकैं तो वह पुरुष सच्चा पुरुष है,—पुरुषके कर्तव्यको पालनेवाला होनेसे पुरुषार्थका सच्चा आश्रय है। और पुरुष यह शब्द तो

पुंलिंग है ही । इस प्रकार जो पुरुष विवेकी है व सच्चे मार्गमें प्रवृत्ति करके मोक्ष-पुरुषार्थको साधना चाहता है वह शब्द व अर्थ दोनो तरहसे असली पुरुष है। ऐसा जो पुरुष होगा उसे दोनो प्रकारसे नपुंसक मन क्या कभी भी अपने वश कर सकता है ? नहीं।

भावार्थ, पुरुष यदि चांहे कि मैं मोक्षकी सिद्धि निस्संशय करूं तो उसे मन कभी विषयोंमें फसा नहीं सकता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि पुरुषने मोक्ष प्राप्त करनेकी तरफ तथा विषयोंके छोडनेकी तरफ उपयोग ही न लगाया हो। नहीं तो उसका स्त्रीलिङ्ग धारण करने वाली स्त्री तथा नपुंसक मन ये दोनो कुछ नहीं कर सकते हैं।

यह सब व्याजोक्ति है। यथार्थमें अभिप्राय इतना ही है कि मन कुछ, पुरुषका स्वामी नहीं है किंतु पुरुष मनका स्वामी है । मन कोई स्वतंत्र निराली चीज नहीं है । केवल विचार करनेकी जो इच्छा व शक्ति प्राप्त होना है वही मन है । वह शक्ति व इच्छा जीवकी है,- जीव ही उसे प्रगट करता है । इसलिये जिस जीनने जिस तरफ दृढ संकल्प किया हो उस जीवका मन वही या उसी तरफ है ऐसा कहना चाहिये। और वह यदि जोरदार हो तो कालान्तरमें भी दूसरी तरफ वह क्यों झुकेगा ?। वस, जिस जीवने मोक्ष प्राप्त करनेका दृढ संकल्प करलिया है उसका वही या उधर ही जब कि मन है तो वह जीव मोक्ष साधनेसे क्यों हटेगा ? और जबतक मोक्ष साधनेसे हटेगा नहीं तबतक स्त्री आदि विषयोंमें उसके मनकी प्रवृत्ति कभी नहीं आसकती है । इसलिये आगामी विषयोंमें मन झुक जानेके भयसे मोक्ष साधनेमें कमी व उत्साहघात कभी न करना चाहिये। तो क्या करना चाहिये ?

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरु तपः पूज्यमत्रापि यस्मात्,
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।
राज्यात्तस्मात् प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३८ ॥

अर्थः—राजाके हाथसे दुष्टोंका निग्रह होकर शिष्टोंका पालन होता है इसलिये राज्य करना एक बडा धर्म है और इसीलिये राज्य पूज्य भी है। जिस तपस्वीको शास्त्रका अच्छा ज्ञान होता है उसका तप भी पूज्य होता है। इस अपेक्षासे यदि देखा जाय तो पूज्य राज्य भी है व तप भी है। परंतु राज्यको भी छोडकर यदि कोई तप करने लगा हो तो वह और भी पूज्य समझा जाता है। किंतु तपस्वी बनकर फिर यदि तप छोडकर राजा होना चाहै या राज्यपदपर आबैठा हो तो वह पूज्यसे अपूज्य बनता है। उसे लोग भ्रष्ट हुआ निकृष्ट समझते हैं। तपस्वींको राजा भी शिर नवाते हैं। राज्यपदसे इतना बडा पुण्य कर्म संचित नहीं होपाता जिससे कि, आगामी फिर भी राजाओंकी विभूति नियमसे मिल ही जाय। क्योंकि, राज्यपदके साथ साथ मद मात्सर्यादि ऐसे बहुतसे दोष भी लगे रहते हैं कि जिनसे आत्मा अति पवित्र न रहकर मलिन बन जाता है। तपमें यह बात नहीं है। जिस तपमें कर्मोंका निर्मूल नाश करके मोक्ष प्राप्त करानेकी शक्ति विद्यमान है उसके द्वारा राज्यपद प्राप्त होना कौन बडी बात है? क्योंकि, तपसे आत्मा परम पवित्र बन जाता है।

इस प्रकार यदि बुद्धिमान मनुष्य विचार करै तो यह बात समझमें सहज आसकती है कि तप राज्यपदसे भी श्रेष्ठ है। जब कि राज्यपदसे भी श्रेष्ठ है व संसारके संपूर्ण ईति भीति आदि संकटोंका इससे नाश होता है तो उस मनुष्यको कि जो पापोंसे व दुःखोंसे डर चुका हो, तप अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थः—विषयभोग तुच्छ हैं, दुःखोंके पैदा करनेवाले हैं। राज्य भी एक सबसे बडा विषयभोग है। इसकी इच्छा भी उन्हीको होती है कि जो धन दौलतको अपनी जानसे भी बडा समझते हैं; काम क्रोध अहंकारादिके जो आधीन हो रहे हैं। जो जितेन्द्रिय हैं, आत्माके कल्याण करनेमें लगना चाहते हैं वे इसपर लात मारते हैं। इस प्रकार

यह राज्य भी आत्मकल्याणके कर्ताओंको हेय समझना चाहिये। यदि विषयभोगोंके सुखार्थ राज्यसंपदा भी प्राप्त हुई हो तो भी उसे छोडकर बुद्धिमानोंको तप ही करना चाहिये। तप आगामी सुखोंका कारण है, राज्य वैसा नहीं है। एवं तपसे साक्षात् भी जो सुख-शांति प्राप्त होती है वह राज्यसे नहीं होसकती है। राज्यके तंत्रसे उपरत व दुःखी होनेवालोंको भी तपमें शांति प्राप्त होती है।

तप पाकर छोडनेवालेकी दशा दृष्टान्तद्वारा दिखाते हैं:—

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद्गुणक्षतिः ॥१३९॥

अर्थः—जब पुष्पोंमें सुगंध रहता है तब बडे बडे प्रतिष्ठित लोग भी उसे गलेका हार बनाकर धारण करते हैं और देवोंके मस्तक तक भी पहुचाते हैं। वे ही पुष्प जब कि गंधरहित मुरझा जाते हैं तब उतार कर उन्हें फेकना पडता है। उस समय यदि डोलने फिरनेकी जगहमें भी वे पुष्प पडे रहजांय तो बुरे लगते हैं; पैरोंसे स्पर्शना भी उनका अनुचित जान पडता है। यह सब गुणकी ही महिमा है। गुण न रहनेपर कौन किसको पूछता है? इसी प्रकार तपस्वी बननेपर जिनकी देवता भी आकर पूजा करते हैं, पैरोंमें पडते हैं; वे ही यदि तपसे भ्रष्ट हो जांय तो सभी लोग उन्हें अति निंद्य समझने लगते हैं। इससे तो व्रत न धारण कर पहिली ही अवस्थामें रहते तो अच्छा था। तपोभ्रष्टको छोटेसे छोटा पामर मनुष्य भी निकृष्ट समझने लगता है। देखो:—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १४० ॥

अर्थः—अरे चंद्र, तू थोडासा कलंक क्यों धारण कर रहा है? तुझमें जो चांदनी है वह जगका प्रकाश करती है और तुझे भी प्रका-

शित करती है। पर साथ ही तेरे दोषको भी प्रकाशित करती है। यदि चांदनी न होती तो तेरा दोष किसीके भी नजर न पडता। इस उज्वल प्रकाशके बीच छोटेसे दोषको भी देखकर लोग तुझे दोषी कहते हैं। इससे तो तू यदि सारा मलिन ही होता तो अच्छा था। गुणोंके वीच पडा हुआ दोष सभीकी दृष्टि पडता है। यदि केतु या राहुकी भांत तू पूरा मलिन होता तो किसीके भी देखनेमें न आता। तब तुझे कौन बुरा कहता था कि यह लांछनयुक्त है। क्या राहु या केतुको भी लोग कभी काला, दोषी, मलिन इत्यादि कहते हैं? नहीं।

भावार्थः—चंद्रके समान उज्वल चारित्र व ज्ञान गुणको जगमें प्रकाशित करके यदि कोई मलिन करले तो उसे सभी जन निन्द्य कहने लगते हैं। सभीकी दृष्टि उज्वल गुणोंके वीच दीखनेवाले दोषपर पडती है। इससे भी अधिक मलिनताको धारण करनेवाला गृहस्थ किसीको भी खटकता नहीं है। इसलिये दोषोंके साथ यदि गुण हों तो दोष जग जाहिर हो जाते हैं और इसीलिये वे गुण उस मनुष्यके दोषदर्शक होनेसे न होनेकी अपेक्षा भी अधिक अनिष्ट समझना चाहिये। तब?

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥ १४१॥

अर्थः—प्रथम तो अपने चारित्रमें दोष लगाना ही नहीं चाहिये। कदाचित् भी मेरे व्रतोंमें दोष न लगै यह भावना सदा मनमें रहनी चाहिये। और इसीके लिये गुरुओंके अधीन रहकर अपना कल्याण करना चाहिये; जिससे कि दोषोंका संशोधन होता रहै। गुरुओंका यही काम है कि वे शिष्योंके चारित्रको बिगडने नहीं देते। जो शिष्य अपना कल्याण करना चाहते हैं बे गुरुओंके दिखाए हुए मार्गको छोडते नहीं हैं।

---

१ संस्कृत टीकामें इसे १४२ वें नंबरपर कहा है व १४२ वें श्लोकको यहां (१४१ वें की जगह) कहा है।

जब शिष्योंकी प्रवृत्ति सुगमतासे सुधरती नहीं दीखती है तब उनके गुरु अति कठोर शासन करके भी दोषोंको दूर करते हैं। थोडा भी दोष जिन्हें सहन नहीं होता वे ही शिष्योंका यथार्थ हित कर सकते हैं। उस समय यदि कठोर शासनकी आवश्यकता दीखती है तो कठोर शासन अवश्य करते हैं। उस शासनको सुनना व धारण करना उन शिष्योंको कदाचित् सहन नहीं होता कि जो आत्मकल्याणके पूर्ण उत्सुक नहीं हैं। इसीलिये वे कभी कभी दोषोंको छिपाते हैं व कहे हुए यथोचित प्रायश्चित्तको भी स्वीकार नहीं करते हैं। परंतु अपना कल्याण सिद्ध करनेकी उत्कट वांछा रखनेवाले शिष्योंका मन गुरुके कठोरसे कठोर शासनको सुनकर व पाकर भी अधिक प्रसन्न ही होता है। ठीक ही है, दूसरोंको सूर्यके किरण चाहें कितने ही खरतर लगते हों पर कमल उन्हें पाकर प्रफुल्लित ही होते हैं। जो ऐसे शिष्य हैं वे ही अंतमें अपना कल्याण साध सकते हैं। गुरुको भी चाहिये कि वह शिष्योंके दोषोंको छिपावै नहीं। देखोः—

> दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
> सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
> तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
> ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोयं खलः सद्गुरुः ॥१४२॥

अर्थः—जो गुरु शिष्योंके चारित्रमें लगते हुए अनेक दोषोंको देखकर भी उनकी तरफ दुर्लक्ष्य करता है व महत्त्वके न समझकर उन्हें छिपाता चलता है वह गुरु हमारा गुरु नहीं है। वे दोष तो साफ न होपाये हों और इतनेमें ही यदि शिष्यका मरण होगया तो वह गुरु पीछेसे उस शिष्यका सुधार कैसे करेगा? इसलिये वह गुरु किसी कामका नहीं है। जो दुष्ट विचारसे ही क्यों न हो, पर बडी सावधानीसे देखता हुआ छोटे छोटे दोषोंको भी बडे बडे बनाकर सदा प्रकाशित करता है वह दुष्ट जन भी हमारा श्रेष्ठ गुरु है। क्योंकि उससे हमारा

सुधार होना संभव है। जो शिष्य हैं वे तो शिष्य ही हैं। वे यदि अपनी सँभाल आप न करें तो कुछ आश्चर्य नहीं है। पर जो गुरुका अधिकार पाकर भी शिष्योंका उद्धार नहीं करता वह गुरु अति निन्द्य है, शिष्योंके सारे पातकोंका वही भागी है। और जो दुष्ट होकर भी किसीके दोष प्रगट करता है वह उसका परम कल्याण-कर्ता है। उसके प्रगट करनेसे विद्यमान दोष सुधारनेकी चिन्ता होने लगती है व आगामी दोष न करनेकी समझ होती है। इसलिये दोष प्रगट करनेवाले दुष्टसे अधिक और कौन उपकारी गुरु होसकता है? संसारमें कठोर वाणी ही क्यों न हो पर जिससे हित प्राप्त होसकता है वह अति दुर्लभ है। देखोः—

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥१४३॥

अर्थः—जिससे दोनो लोकोंका कल्याण होता हो ऐसा उपदेश कहनेवाले भी पहले तो बहुत थे व सुननेवाले भी बहुत थे। परंतु तदनुसार आत्मकल्याणमें लगनेवाले तब भी विरले ही थे। पर आज यह बात है कि कल्याण करलेनेवालोंको दूर रखिये; कहने सुननेवाले भी अति विरल हैं। सुननेवालोंमें तो सुनने तककी रुचि नहीं है और कहनेवाले उनका मुख देखकर बोलनेवाले हैं। इसीलिये आजकल दोनोंकी कमी है।

यथार्थ उपदेश कठोर हो तो भी ग्राह्य है। देखोः—

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामऽतिप्रीतये।
कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,—
र्न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥१४४॥

अर्थः—गुणदोषोंकी जाच करनेवाले गुरु या हितेच्छु जनोंने जाचकर यदि अपनेमें दोष ही दोष ठहराये हों तो भी समझदार मनुष्योंको उतना आनंद होना चाहिये जितना कि सदुपदेश सुननेपर होता

है। क्योंकि, सदुपदेश सुनकर जैसा कल्याण होसकता है वैसा ही अपने सच्चे दोष सुननेपर भी कल्याण होसकता है । दोषोंको विना छोडे कल्याण होना असंभव है । और दोष तभी छोडे जासकते हैं जब कि उन्हें जान लिया जाय । अपने दोषोंको आप जानलेना कठिन बात है। इसलिये जो कोई दूसरा मनुष्य अपने दोष बतादे तो अच्छी ही बात है। उसे विद्वान् मनुष्य बुरा क्यों मानने लगा ?

हाँ, कुछ मतलव साधनेवाले अज्ञानी मनुष्य यदि स्वार्थवश स्तुति भी करते हों तो वह स्तुति उस बुद्धिमानको न रुचेगी । क्योंकि, वह स्तुति स्वार्थवश झूंठी ही कीगई है। और इसीलिये वह एक उनकी धिठाई है या अति साहस है; जो कि गुण न होते हुए भी वे स्तुति करते हैं । उसको सुनकर यदि संतोष व आनंद मानलिया जाय तो कल्याण होना कठिन है । दोषोंको समझकर छोडनेसे कल्याण होता है, गुणोंमें वृद्धि होती है । पर अपनेमें गुण न होते हुए भी यदि किसी खुशामदीके बोलनेपरसे गुण मानकर संतोष करलिया जाय तो अपना कल्याण व अपनेमें गुणोंकी वृद्धि कैसे हो सकती है ? इसीलिये अज्ञानी गरजू मनुष्योंकी स्तुतिसे बुद्धिमान मनुष्य प्रसन्न कभी नहीं होते । यदि कोई अज्ञानी मनुष्य इस मतलबको न समझता हो तो वह अवश्य स्तुति करनेवालोंपर प्रसन्न होगा और दोष दिखानेवालोंपर अप्रसन्न होगा । पर यह लाचारी है। उसके अज्ञानकेलिये हम क्या करें ? अच्छा तो ज्ञानीको करना क्या चाहिये ?

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥ १४५ ॥

अर्थः—जिस मनुष्यकी किसी कार्यमें प्रवृत्ति फक्त गुण-दोष देखकर होती हो, दूसरा स्तुतिनिन्दादि सुननेका कुछ भी प्रयोजन उस प्रवृत्ति–निवृत्तिमें न हो, वही श्रेष्ठ विद्वान मनुष्य है ।

भावार्थः—किसी भी कार्यके करते समय फक्त गुणदोष देखने चाहिये । जिससे गुणवृद्धि व कल्याण होता दीखै वह कार्य करना चाहिये और जिससे गुणहानि व अकल्याण होता दीखै वह कार्य कदाचिद् भी न करना चाहिये । वस, इतना समझकर, निन्दास्तुतिकी कुछ भी परवाह न करके जो चलता है वही श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य है । उसीके हाथसे आत्मकल्याण होसकता है ।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशं,
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥ १४६ ॥

अर्थः— आजतक तेरेमें इसी बातकी कमी रही । अभीतक तू जितने काम करता है उनमें यह तो देखता ही नहीं है कि इससे मेरा कल्याण होगा अथवा अकल्याण,--इसके करनेसे मेरी सुगति होगी अथवा दुर्गति? फक्त, निन्दा व स्तुति होते देखकर सारे काम तू करता है । इससे होता क्या है? ऐसा चलनेसे तू आत्मकल्याण व गुणोंकी वृद्धि नहीं कर सकता है; और न दोषोंको छोड ही सकता है । तब? तेरे हाथसे हित तो कुछ हो नहीं पाता किंतु अहितमें प्रवृत्ति होती है । यह सब तेरे अज्ञानकी चेष्टा है । इसीसे तू उलटा चल रहा है और इसीलिये आजतक अति दुःखी होरहा है । अब तू इस निन्दा-स्तुतिके झगडेको छोडकर हिताहितकी परीक्षा कर । निन्दा-स्तुतिको देखकर चलनेसे न तो दोष ही छूट पाते हैं और न गुणोंकी वृद्धि ही हो पाती है । केवल पक्षपातमें फसकर दोषोंका संचय किया जाता है । इसलिये इस अहितकारी विचार व प्रवृत्तिको छोडदेना चाहिये । यह छोडकर यदि अपने हितकी तरफ देखना सुरू किया तो सुख प्राप्त होगा, धीरे धीरे दोष हटकर गुण बढेंगे, और एक दिन असली आत्मकल्याण पूरा प्राप्त होजायगा । वह हित यदि देखना हो तो यही है कि स्वार्थी लोगोंकी स्तुतिपर लक्ष्य न देकर सत्पुरुषोंद्वारा दिखाये हुए दोषोंको छोडनेका प्रयत्न किया जाय ।

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमितो,
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः ।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्,
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः॥१४७॥

अर्थः—रागादि व विषयभोगाकांक्षा, स्त्रीपुत्रादिकोंके साथ अटूट प्रेम, ये सब दोष हैं; क्योंकि, इनके होते मनुष्य निराकुल नित्य सुखी नहीं होसकता है। जो अनिष्टजनक या अहितसाधक होता है वही दोष समझा जाता है। स्त्रीपुत्रादिके साथ प्रेम व विषयभोगाकांक्षादिक, ये सब आकुलता, अज्ञान, बुद्धिविपर्यासादि उत्पन्न करते हैं जिससे कि जीवोंको थोडासा भी चेन नहीं मिलसकता है। इसीलिये ये दोष हैं। इन दोषोंको उपजानेवाले अशुभ–खोटे कर्म रहते हैं। उन्ही कर्मोंके तीव्र उदयसे जीवोंमें रागान्धता उत्पन्न होती है।

अब देखिये गुणोंकी तरफ। आत्मज्ञानादि व एकाकी रहकर आत्मीय सुखानुभव करना, विषयोंसे मन उदास होना या वीतराग चेष्टा उत्पन्न होना, ये सब गुण हैं। जिससे आत्मा साक्षात् व परंपरया असली सुखी शांत होसकता है उसीको गुण कहाजाता है। आत्मज्ञानादिके प्रगट होते ही जंजाल, जो कि दुःख व आकुलता बढानेवाले हैं उनसे आत्मा उपरत होता है और इसीलिये काल पाकर नित्यानंदका भोक्ता बन जाता है। इसलिये आत्मज्ञानादिको गुण माना जाता है। इन गुणोंकी उत्पत्ति मिथ्या दुःखदायक कुकर्मोंके उपशांत व क्षीण होनेपर होती है।

इस प्रकार जिस मनुष्यको इन दोष-गुणोंकी व दोष-गुणोंके कारणोंकी कार्यकारण श्रृंखला निश्चित हो चुकी है उसे छोडने लायक दोष व दोषके हेतु छोडने चाहिये और स्वीकार करने लायक गुण व गुणोंके कारण स्वीकार करने चाहिये। जब कि मनुष्य इस बातको समझ चुका हो तो इनके त्याग व स्वीकारमें कुछ भी विलम्ब न करना

चाहिये। जो ऐसा करता है वही सदाचारी व ज्ञानी समझना चाहिये और उसीको अटूट सुख व कीर्ति प्राप्त होसकती है।

सच्चा बुद्धिमान् कौन ?

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात्।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाश,-
स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोभ्यधायि ॥ १४८ ॥

अर्थः—जो अपना हित सिद्ध कर सकता है व करलेता है एवं अहितको दूर कर सकता है वह बुद्धिमान् समझा जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकता है उसे लोग मूर्ख समझते हैं। यह बात ठीक है, परंतु हित व अहित है क्या ? जनसाधारणमें धन दौलत, विषय भोगादिकी सामग्री, स्त्री-पुत्रादिकी पूर्णता व अनुकूलता, ये सब हित समझे जाते हैं। दरिद्रता, विषयभोगोंकी कमी, इत्यादिको लोग अहित कहते हैं। धन दौलत वगैरह हितको जिसने अच्छी तरह साधलिया हो वह बुद्धिमान् समझा जाता है और जो ऐसा नहीं कर सकता वह मूर्ख माना जाता है। पर यथार्थमें देखनेसे मालूम होगा कि धन दौलतसे सच्चा हित नहीं हो सकता और दरिद्रता बनी रहनेसे कुछ अहित नहीं हो सकता है। धन दौलत वगैरह जो कि हितावह माने जाते हैं वे सब कर्मकी माया हैं। शुभाशुभ जैसे कर्मका जिस समय उदय होता है उस समय वैसे अच्छे बुरे संबंध आकर मिलते हैं। मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो परंतु कर्म अशुभका उदय रहते हुए धन दौलत कभी नहीं कमा सकता है। यदि कर्म शुभका उदय हो तो मूर्ख मनुष्यके पास भी धन दौलत इकट्ठी हो जाती है। तब ? इसमें प्रयत्न करना केवल कहनेमात्र है। धन दौलत वगैरह सारी ऐहिक विभूतिका समर्थ कारण देखना हो तो एक-मात्र शुभाशुभ कर्मोदय है। इसलिये किसीको धनी व गरीब देखकर बुद्धिमान् व मूर्ख मानना सर्वथा भूल है। धन दौलत

वगैरहके इकट्ठे करलेने न करलेनेसे कोई बुद्धिमान् व मूर्ख नहीं होसकता और न इसको हिताहित सिद्ध करलिया ही मानना उचित है। ये बातें सभी जगमें एकसमान हैं। एक ही मनुष्य कभी धनी कभी निर्धन बना हुआ देखनेमें आता है। इसलिये इतनी उन्नतिके होने न होनेसे संतोष व दुःख भी न मानना चाहिये। तब?

सुगतिका साधन करना और उसके अनुकूल साधनोंका संग्रह करते हुए बाधक कारणोंको हटाना यह बुद्धिमानी है। और ऐसा जिससे नहीं बन सकता है उसे मूर्ख कहना चाहिये। यही असली हित है। इससे जीव शाश्वत सुखी बनता है। संसारके क्षणिक सुख व उनके साधनोंका संग्रह करलेनेसे कोन बुद्धिमान्, बुद्धिमान् कहेगा?

कलियुगमें धर्मकी रक्षा होना कठिन है। देखोः–

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमऽदोस्त्याश्रमवताम्।
नतानामाचार्या न हि नतरताः साधुचरिता,–
स्तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥१४९॥

अर्थः—इस कलियुगमें नीतिमार्गकी प्रवृत्ति केवल दंडके अधीन होरही है। दंडके सिवा, दूसरे कोई भी उपाय मनुष्यको नीतिमार्गपर रखनेकेलिये समर्थ नहीं हैं। दंड देकर सुपथपर लाना यह राजाओंका काम है। और राजाओंका यह हाल है कि जहांसे धन दौलत मिलती दीखती है वहां वे अपना ध्यान लगाते हैं। साधु विचारे निर्धन। उन्होंने धन पहिलेसे ही छोड दिया है। तब? उन्हें न्याय मार्गपर चलानेकी चिन्ता राजाओंको क्यों हो? वे समझते हैं कि साधुओंको न्यायमार्गपर चलानेका कष्ट उठानेपर भी हमें मिलनेवाला क्या है? कुछ नहीं।

इस प्रकार राजाओंसे तो साधुओंका सुधार होना कठिन है। अब यदि साधुओंके सुधारका दूसरा कोई मार्ग है तो एक उनके गुरु।

यदि उनके गुरु चाहें तो अपने शिष्योंका सुधार सहजमें करसकते हैं। कोई भी साधु हो, वह किसी न किसी संघाधिपति गुरुका शिष्य बननेपर साधु हो पाता है। इसलिये यदि गुरुओंको साधुओंका सुधारना इष्ट हो तो सहजमें साधुमार्ग शुद्ध होसकता है और सभी साधु अपने उचित सच्चे कल्याणके साधनेवाले बन सकते हैं। परंतु गुरुओंसे भी साधुओंका सुधार होना आज कठिन होगया है। क्यों? गुरु नमस्कारप्रिय होने लगे। जो नमस्कार, स्तुति, भक्ति करता हो उसीके वश हो जाते हैं। वे चाहें जैसा उसे स्वच्छन्द चलने देते हैं। और जो नमस्कारादि कम करता है उसे सच्चे मार्गमें रहते हुए भी बाधित करते हैं। और अपने आप मार्ग शोधकर चलना कठिन है।

इस प्रकार देखनेसे मालूम होगा कि धर्ममार्गका सुधार आज कठिन होगया है। शक्तिसे धर्मकी रक्षा करनेवाले राजा व गुरु। परंतु ये दोनो ही आज धर्ममार्गके सुधारनेमें दत्तचित्त व तत्पर नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें धर्मका ह्रास व साधुओंके मनचाहे मार्ग बन जाना सुगम बात है। ऐसे समयमें उलटा उसीको आश्चर्य मानना चाहिये कि कोई एक दो साधु अपने मार्गपर चल रहे हों। यदि वे भी बहुत ही अच्छे आचरणके साथ रह रहे हों तो और भी अधिक आश्चर्य समझना चाहिये। पर साथ ही यह भी समझना चाहिये कि गुरुओंकी भक्ति व आज्ञाका पालन करना भी परम कर्तव्य है। देखोः—

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै,—
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।
संधर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमा,
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥१५०॥

अर्थः—कितने ही मनुष्य किसी कारणवश या श्मशानवैराग्य होजानेपर एकाध वार साधुका वेश तो धारण करलेते हैं परंतु स्त्रियोंके वक्र अवलोकनको जब सहन नहीं करसकते तब अत्यंत व्याकुल हो

जाते हैं-चित्त ठिकानेपर नहीं रहता। स्त्रियोंका वक्रावलोकन बाणसे भी अधिक जाकर हृदयमें चुभने लगता है। कामी मनुष्य शरीरमें शर प्रवेश कर जानेपर पीडित हुए हरिणकी तरह उस वेदनाके मारे इधरसे उधर फिरते हैं। शर प्रवेश कर जानेपर हरिण जैसे जंगलभर भटकता है पर उसे कहीं भी शांति प्राप्त नहीं होपाती; इसी प्रकार ये काम-पीडित भ्रष्ट साधु विषयाटवीमें चारों तरफ भटकते हैं पर कहीं भी शांति प्राप्त नहीं कर सकते। जब कामकी तीव्र वेदना हृदयमें प्रगट होती है तब किसी मनोहरसे मनोहर भोगमें भी चित्त जमता नहीं है। वायुके वेगसे इधर उधर उडनेवाले मेघोंकी तरह कामवेदनासे दुःखी हुए वे साधु कहीं भी स्थिर नहीं होते। व्रत-संयमादिकोंसे तो चलायमान होते ही हैं परंतु फिर भी स्थिरता प्राप्त नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अव्रती रहकर अति आनंदित व शांत सुखी रहता है; पर काम-पीडित साधु अव्रती गृहस्थोंसे भी अति हीन दशामें प्राप्त हो जाते हैं। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टियोंकी तरह अज्ञानी व विषयाधीन तथा अशांत बन जाते हैं। यह सब होकर भी वे जबतक साधुवेशको छोडते नहीं तबतक लाज या अपमानके भयसे अपनी गिनती साधुओंमें ही कराते हैं, अपनेको साधु कहाकर प्रसन्न होते हैं।

ऐसे भ्रष्ट साधुओंका ऊपरी साधुवेश देखकर बहुतसे भोले भव्य जंगली कबूतरोंकी तरह उनमें जाकर मिल जाते हैं और धीरे धीरे उन्हींकेसे बन जाते हैं। इसलिये अरे भाई, तुझे सँभलकर रहना चाहिये। तू उनमें जाकर कहीं मिल न जाना। नहीं तो रहा सहा सब चला जायगा। तू जबतक अति प्रबुद्ध नहीं होता तबतक यथेष्ट अपनी प्रवृत्ति मत कर। ऐसी अवस्थामें तुझे गुरुओंकी चरणरज छोडकर स्वच्छन्द कहीं कभी न भटकना चाहिये। गुरुओंकी सेवा भक्ति व आज्ञा पालनेसे ही तेरा कल्याण होगा। तू स्वयं अपनेको सँभाल नहीं सकता है। सभी साधारण स्थितिके साधु अपनी चर्या

शुद्ध बनानेकेलिये स्वयं समर्थ नहीं हो सकते हैं। और ऐसे ही साधु प्राय वहुत होते हैं। इसलिये गुरुओंके आश्रय सिवा उन साधुओंको कभी स्वतंत्र रहना न चाहिये।

साधुओंका असली स्वरूपः—

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः,
संयानमिष्टमशनं तपसोभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र,–
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याच्ञाम् ॥१५१॥

अर्थः—ग्रन्थकर्ता साधुओंको कहते हैं कि तुम पूरे स्वतंत्र हो। तुह्में किसी भी चीजकी ऐसी जरूरत नहीं है कि विना कहींसे संग्रह किये, तुह्मारा काम न चलै। देखोः—

तुह्मारा घरका काम गुफाओंसे चलता है; तुह्में घर बांधनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम दिगंबर बन गये इसलिये आजू बाजूकी दिशाओंके सिवा पहरनेकेलिये अन्य वस्त्रोंके संग्रह करनेकी गरज नहीं रही। आकाश ही तुह्मारेलिये वाहन है। उसीमें बसकर चाहें जहां विचरो। तपकी अत्यंत वृद्धि करनेसे तुह्मारा मनोवांछित भोजन पूरा होसकता है। इष्ट भोजन करनेसे भूंख नष्ट होती है। वह भूंख तुह्में केवल तपकी है। तपको खूब बढाओ यही तुह्मारा कर्तव्य है; नाकि भोजनकी चिंतामें समय बिताना। चारित्रादि अनेक गुण जो तुह्में प्राप्त हुए हैं उन्हींमें तुह्में स्त्रीसे भी अधिक रत होना चाहिये। जिन्हें गुण प्राप्त नहीं होपाते वे अपना मन स्त्रियोंमें रमाते हैं। पर जिन्हें उत्तमोत्तम सच्चे कल्याणकारी भेद-ज्ञानादि गुण प्राप्त होचुके हैं उनका मन जैसा उन गुणोंमें आसक्त होसकता है वैसा कहीं नहीं होसकता। इसलिये उनको स्त्रीसे भी अधिक मनोरंजक, गुण समझने चाहिये।

अब तू यदि विचारकर देखै तो तेरेलिये एक भी ऐसी चीजकी जरूरत नहीं कि जिसके विना तेरे कण्याण साधनेकी प्रवृत्ति रुक

जाय। तू यदि कहींसे कुछ भी कभी न मांगना चाहें तो तेरा काम चल सकता है। प्रत्युत, न मांगनेपर ही यह तेरी दशा प्रशंसायोग्य व कल्याण साधनेवाली होसकती है। यदि तेने याचना करनेका विचार किया तो तेरा आत्मा मलिन व दीन बन जायगा जिससे कि तेरे कल्याणमें बाधा उपस्थित होना संभव है। जो मनुष्य अपनेको उत्कृष्ट व समर्थ समझकर किसी उत्तम ध्येयको साधना चाहता है वही उस अभीष्ट मनोरथको पूरा करसकता है। याचना करनेवाला अपनेको असमर्थ दीन समझने लगता है इसलिये उसके हाथसे उत्कृष्ट ध्येय पूरा नहीं होपाता। जब कि तेने अपना मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट ध्येय समझलिया है तो वृथा याचना करके तू दीन क्यों बनता है? तू स्वयं समर्थ होसके इसीलिये गुरुओंने तेरा कल्याणमार्ग सर्वथा स्वतंत्र करदिया है। इसलिये यदि तुझे जंजालोंसे मुक्त होना है तो किसी भी चीजकेलिये किसीसे वृथा याचना मत कर। देख,—

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्[1]।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ॥ १५२॥

अर्थः—कितने ही मनुष्य छोटीसे छोटी चीज परमाणुको कहते हैं व आकाशको बडेसे बडा मानते हैं। परंतु उनका यह कहना तभीतक टिकसकता है जबतक कि उनके सामने दीन व अभिमानी आकर खडे न हुए हों। जो याचना करता है वह दीन कहाता है और जो कैसा भी कष्ट आनेपर याचना नहीं करता वह अभिमानी है। अभिमानी आकाशसे भी बडा, गंभीर, महान् दीखता है और दीन परमाणुसे भी तुच्छ बन जाता है। दीनके विचार व आत्मा संकुचित हो जाते हैं। इसीलिये उसे लोग अति तुच्छ समझते हैं और वह आप भी अपनेको अति तुच्छ मानता है। अभिमानी जो कि कभी याचना नहीं करता, वह अपने विचारोंको व आत्माको पूरा विकसित व प्रसन्न रखता है। उसकी प्रसन्नता व गंभीरताका

---

१ 'महत् परं' ऐसा भी पाठ है।

अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। यद्यपि दीनता व अभिमानके साथ परमाणु व आकाशके विस्तारकी तुलना ठीक ठीक बैठती नहीं है तो भी तुच्छता व बढप्पनकी सीमा दिखानेकेलिये इधर परमाणुको उधर आकाशको लेकर अतिशय प्रगट किया है।

जो दीन हो जाता है वह सभी प्रकारसे असमर्थ बन जाता है और जो अभिमानी या मनस्वी होता है वह हर कामको पूरा कर सकता है। धर्म प्राप्त करनेका अर्थ क्या है? यही कि, आत्मा वास्तविक किसी बातका गरजू नहीं है। पर लोग इस बातको भूल रहे हैं। लोग अपनेको जहां जितना पराधीन समझते हैं वहां वे उतने ही अधर्मी हैं। आत्माको जहां जितना स्वतंत्र बनाया जाता है वहां उतना ही धर्म है। जब कि सभी विषयोंको अनावश्यक समझकर आत्मचिंतवनमें मग्न हो जाना है तब तो पूरा स्वावलंबन प्राप्त होनेसे पूरा ही धर्म है; परंतु जब कि उद्योग धंदा आदि करके आत्माको अपने आप निर्वाह करनेके समर्थ समझना है तब भी उतना धर्म ही है। क्योंकि, आत्माको जितना जितना परतंत्र माना जाता है उतना ही उतना आत्मा कर्मबद्ध होता है और जितना जितना स्वयं-समर्थ माना जाता है उतना ही उतना आत्मा कर्मसे भी मुक्त होता है। विपर्यासित बुद्धिका होना ही कर्मबंधनका कारण है। इसीलिये दीन, पापी व अभिमानी, धर्मात्मा मानना पडता है। क्योंकि दीन याचनाके विना अपना निर्वाह न समझकर परके अधीन होता है और अभिमानी वहांपर स्वाधीन रहकर निर्वाह करलेना सुलभ समझता है। इसीलिये यहां अभिमानका अर्थ गर्व न समझना चाहिये।

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५३॥

अर्थः—याचना करनेवाला व दान देनेवाला, पुरुष दोनो ही समान हैं। किसीकी भी जात-पांत या लक्षण आकार भिन्न नहीं हैं।

तो भी दान देते समय दाता तो अति महान दीखने लगता है और याचना करनेवाला अति तुच्छ दीख पडता है। इसका कारण शायद यह हो कि उस समय याचकका गौरव या महत्त्व दाताकी तरफ पलट कर पहुच जाता है। यदि ऐसा न होता तो याचकका इतना तुच्छ बनना व दाताका इतना गौरव बढना असंभव था। इसमें दूसरा कोई कारण ही नहीं दीखता है। दोनो समानजातीय मनुष्य होकर भी याचनामात्र याचकका गौरव कम करनेवाली है। जितनी इधर लघुता प्राप्त होती है उतना ही उधर दाताका गौरव बढता है।

इन दोनोंकी अवस्थाका दृष्टान्तः—

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥१५४॥

अर्थः—तराजूके जिस पलडेमें कुछ चीज रखदी जाती है वह नीचा होजाता है और जो खाली रहता है वह ऊंचा होजाता है। इससे यह मतलव समझना चाहिये कि याचनापूर्वक लेनेवालेकी भी यही दशा होती है। जो याचना करके लेता है वह अधोगति-नरकका पाप संग्रह करके नीचे चला जाता है। और जो भोगके विषयोंसे उदास रहता है, कभी किसीसे कुछ याचना नहीं करता है वह पापोंके बोझेसे हलका रहता है। और इसीलिये वह स्वर्ग या मोक्षकेलिये मरकर ऊर्ध्व गमन करता है।

यद्यपि याचना करना सभीकेलिये बुरा है पर, साधुओंकेलिये तो याचना करनेकी सर्वथा ही मनाई है। वे किसीसे याचना नहीं करते। यदि उनकी आवश्यकतानुसार कोई अन्न औषध तथा पुस्तकादि उन्हें देदं तो बे लेते हैं, नहीं तो नहीं। यदि किसी भक्तका उनकी तरफ महीनों भी लक्ष्य न जाय तो भी वे दुःखी नहीं होते; याचना करनेको तयार नहीं होते। उनकी धीरता बडेसे बडा कष्ट आजानेपर भी ढलती नहीं है। वे अपनेको इतना अधिक स्वतंत्र बना लेते हैं तभी तो उनकी मुक्ति इस संसारसे शीघ्र होसकती है।

धनकी निन्दाः—

सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत् सर्वतर्पि यत् ।
अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निस्वता वरम् ॥१५५॥

अर्थः—अरे याचकों, धनकी चांह तो सभीको है । सभी कोई धनीकी तरफ आशा लगाते हैं । परंतु किसीके पास धन कितना ही हुआ तो भी क्या सभीकी इच्छा उससे पूरी हो सकती है? नहीं । और बहुतसे धनी तो ऐसे होते हैं कि जो धन होते हुए भी किसीको देना ही नहीं चाहते हैं । इसलिये तुह्मारी इच्छा कभी पूरी नहीं हो-सकती है । इसीलिये तुम अपनी दरिद्र अवस्थामें ही संतोष करो । तुम तो याचना करते समय तुच्छ बन ही जाते हो, पर जिसको धनी समझकर तुम याचना करते हो वह यदि तुह्मारी इच्छा पूर्ण न कर सकता हो तो उस धनीसे तुम निर्धन ही अच्छे हो ।

भावार्थः—तुमको याचना करनेपर भी सदा सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है । इसलिये तुमको चाहिये कि याचना करके अपने गौरवको नष्ट न करो । विषयोंकी दरिद्रता रहनेपर भी तुम उसीमें संतोष करो । धनी कहलाकर भी जो निर्धन दीन याचककी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकते, उनमें व याचकोंमें अंतर ही क्या रहा ? इसीलिये उनका धन पाना निरर्थक है ।

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या ।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥ १५६ ॥

अर्थः—आशा यह इतना बडा गहरा खड्डा है कि कुबेरकी सारी निधियोंसे भी पूरा भर नहीं सकता है । यद्यपि कितना ही खर्च करनेपर निधियोंका भी थाह नहीं लग पाता परंतु वे निधियें प्राप्त हो-

---

१ तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः । (नैषधच०) अर्थात्,—याचना करनेवालेका मतलब समझकर भी जो याचना सुनने तककी प्रतीच्छा करता है यदि उसीको धिक्कार है तो याचकको वापिस करनेवालेकी निन्दाका तो ठिकाना ही क्या है ?

जानेपर भी तीव्र लोभी मनुष्यकी आशाकी पूर्ति नहीं होती है । चांहे जितना धन संपत्ति लोभीको मिल जाय पर उसकी तृष्णा बढती ही जाती है । इसीलिये यह आशारूप खड्डा अथाह है । तब फिर चांहे जितनी याचना या कमाई की जाय पर, आशा रखते हुए संतोष नहीं मिल सकता है । इसीलिये यह धन किस कामका है कि जिससे संतोष ही नहीं हो पाता । हाँ, मान-धनसे अर्थात् याचना छोडकर याचनासे होने वाली तुच्छताको हटाकर, गौरवकी रक्षा करनेसे संतोष अवश्य प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार देखनेसे मालूम होगा कि मनस्वितासे आशा-रूप खड्डा भर जाता है । इसलिये जो निधियोंसे भी नहीं भरा गया वह आशारूप खड्डा जिस मानरक्षारूप धनने बराबर भर दिया वह मान धन ही असली धन है । इसलिये अपने मान गौरवकी रक्षा करना सभीका कर्तव्य है ।

आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥१५७॥

अर्थः— जिस आशारूप खड्डेको निधियोंसे भी किसीने भर नहीं पाया, जिसके सामने तीनो लोक भी थोडे दीखते हैं-तीनो लोक भी जिसके एक कोनेमें समा सकते हैं; इतना वह आशागर्त गहरा व वि-स्तीर्ण है । इसकी पूर्ति बडे बडे चक्रवर्ती सरीखोंसे नहीं हुई । यदि की तो, निर्धन साधुओंने की । यह आश्चर्यकी बात है । उन्होंने विचार किया कि यह आशागर्त किन चीजोंसे उत्पन्न होता है ? तो मालूम हुआ कि धन दौलत वगैरह विषय-सामग्री इसको उत्पन्न करती है । बस, साधुओंने एक एक सामग्रीको उठा उठा कर फेंक दिया । अब आशा-गर्त कहांसे रह सकता है ? बस, आशागर्त सहजमें ही बराबर होगया ।

अहो, यदि कोई मनुष्य जलती हुई आगको बुझाना तो चाहें और ला-लाकर उसमें ईंधन डालता जाय; तो क्या वह आग कभी भी थंडी पडेगी ? नहीं । उसके बुझानेका एकमात्र यही उपाय है कि जो

ईंधन आगसे दूर पडा हुआ है उसे तो दूर ही रक्खा जाय और जो ईंधन आगके पास पडा है व जिसमें आग लगती जाती है उसे उठा उठाकर वहांसे दूर फेंका जाय। तो संभव है कि धीरे धीरे आग बुझ जायगी।

इसी प्रकार संसारके अज्ञानी जन क्या करते हैं कि आशामें पडे हुए विषयोंको हटानेका प्रयत्न न करके आशाको कम करना चाहते हैं। जो विषय सामने दीख पडते हों उन्हींसे आशा प्रदीप्त होसकती है। आशाको इस प्रकार प्रदीप्त करनेवाले मौजूद विषयोंको हटाना तो दूर ही रहा किंतु जो विषय स्वप्नमें भी संभव नहीं होसकते उनको इकट्ठा करनेकी खटपटमें लगते हैं। जब कि न मौजूद चीजोंको भी ला-लाकर अपने सामने इकट्ठा किया जाय तो आशा उलटी भडकेगी या कम होगी? अज्ञानियोंकी इस उलटी चेष्टासे आशा कम कैसे होसकती है?

हाँ, जिन ज्ञानियोंने इसके नष्ट करनेका उपाय समझलिया उन्होंने अप्राप्त विषयोंके संग्रह करनेकी इच्छा तो छोड ही दी परंतु उस आशाके वीच पडे हुए विषयोंको भी एक एक करके फेंकना सुरू किया जिससे कि उनकी आशा निर्मूल नष्ट होगई। अज्ञानियोंको जहां कि यह दीखता था कि इसके विना तो काम चल ही नहीं सकता है; इसीलिये इसकी तो आशा छूटना असंभव है; वे चीजें भी ज्ञानियोंने अपने मनमेंसे निकाल कर फेंक दीं। देखियेः—

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय,-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान्॥ १५८॥

अर्थः—आशा जबतक नहीं छूटती तबतक राग द्वेष नष्ट नहीं हो सकते हैं। रागद्वेषके नाश किये विना कर्मबंधनसे छूटकर मुक्त होना असंभव है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष आशाको निर्मूल नष्ट करनेमें

लगते हैं । जिन वस्तुओंके विना प्रथम अवस्थामें भी काम चल सकता है उतनी वस्तुएं तो वे एक-दम छोड देते हैं। जैसे धन दौलत, स्त्रीपुत्र, वसन आभूषण। रहा एक शरीर, एक आहार व रागादि अंतरंग संस्कार। पर वे इनका भी नाश करना धीरे धीरे शुरू करते हैं। प्रथम आहारको त्यागते हैं और पीछे अंतरंग संस्कारोंको । इन दोनोंका नाश होते ही शरीरका नाश कुछ समय वाद आप ही हो जाता है। क्योंकि, शरीरके पैदा करनेवाले व रखनेवाले कर्म-कारणोंका जब नाश हो जाता है तब शरीर—कार्यका टिकाव कैसे रह सह सकता है ? वस, उस समय जीव जगके जंजालोंसे पूरा पूरा छूटकर अखंड शांति-सुखमें मग्न होता है। परंतु जबतक आहार छोडकर अपने बलपर ठहरनेकी शक्ति व अभ्यास प्राप्त नहीं हुआ तबतक आहार ग्रहण करना पडता है। तो भी उसके स्वीकार करनेमें साधु इतना प्रतिबंध या कैद लगा लेते हैं कि जिससे उसमें अत्यंत आसक्ति न बढै किंतु धीरे धीरे उससे छुटकारा मिलता जाय। देखिये:—

स्वयं करना नहीं, दूसरोंसे कहकर कराना भी नहीं तथा उस आहारके तयार होनेकी इच्छा भी न रखना; अथवा उसमें अपनी संमति भी प्रकाशित न करना । इत्यादि जो जो आहारके लेनेकी विधि कही गई है उस सर्व विधिके अनुसार मिलनेपर साधु आहार लेते हैं। और फिर भी ऐसा आहार लेते हैं कि शरीर रखकर तप खूव करसकैं। दूसरे लोग दें और भक्तिपूर्वक दें तो लेते हैं, नहीं तो नहीं। वे याचना करके लेना नहीं चांहते व देनेवालेकी इच्छा न रहते हुए दवाव डालकर भी लेना नहीं चांहते हैं। इसपर भी ऐसा नहीं करते कि सदा उसीकी चिंतामें लगे रहैं। किंतु कदाचित् व क्वचित् आहार लेते हैं। वह भी तव कि, जब काम चलता नहीं दीखता। और जब लेते हैं तब भी पेट भरकर नहीं खाते किंतु थोडासा, जिससे कि धर्मकार्य तपश्चरणादि करनेमें बाधा व प्रमाद न हो। इतना होकर भी जबतक

वह पूरा छूट नहीं पाता तबतक उन्हें इस बातकी लज्जा बनी रहती है कि हमारी स्वतंत्रता होनेमें इतनी कमी है ! अब कहिये, ऐसा महात्मा थोडी और भी कनक वसनादि आरामकी चीजें अपने पास रख सकता है ऐसा मानना कितना अनुचित है ? वह आहारके सिवा और चीजोंको, जिनसे कि धर्माचरणमें कोई सहायता नहीं मिलती, केवल कायरतावश कैसे रखसकता है ? परिग्रह एक पिशाचके समान जीवोंको उन्मत्त व अज्ञानी बनानेवाला है। इसलिये वह जितना छूट सकता हो उतना ही अच्छा है।

साधु या मुनि, यति, तपस्वी, भिक्षु, इत्यादि नाम छट्ठे गुणस्थानवर्ती मनुष्यके हैं। क्रमसे जैसा जैसा राग-द्वेष कम होता जाता है वैसे ही ये गुणस्थान ऊपर ऊपरके माने जाते हैं। पहले गुणस्थानमें आत्मज्ञान न होनेसे विषयोंके साथ जो अत्यंत रागान्धता रहती है जिसे कि ‘ अनंतानुबन्धी ’ ऐसा कहते हैं; वह छूटते ही आत्मज्ञान व साथ साथ विषयरागोंकी शिथिलता हो जाती है। बस, इसीको चौथा गुणस्थान कहते हैं। इसमें आजानेपर भी विषयोंसे पराङ्मुखता ऐसी नहीं होपाती कि जिसे कोई दूसरा समझ सकै। पर तो भी विषयोंमें जो गाढ अन्धता पहिले रहती थी वह अब नहीं रहती व आत्माका कुछ साक्षात्कार भी होने लगता है। यह मुक्त होनेके क्रमका प्रथम दर्जा है। मुक्त होनेकेलिये सुरुआत यहींसे पडती है। इसे अव्रत सम्यग्दृष्टी कहते हैं।

जब जीवकी निवृत्ति कुछ और भी अधिक बढती है तब गुणस्थान पांचवा होजाता है। इसमें सुरूसे ही वे चीजें छूटने लगती हैं कि जिनको छोडकर भी मनुष्य दुनियाके सहवासमें रह सकता हो। जैसे, अन्यायकी प्रवृत्ति, स्त्री, व्यापार-धंदा, हाथसे भोजनादि करना, फिर अपने पुत्रादिकोंको व्यापारादिकी संमति देना व अपने घरका निवास, भोजनकेलिये पूछनेपर किसीको आज्ञा देना, व साथ

बुला लेजानेवालेके साथ भोजन करनेकेलिये चले जाना; ये बातें क्रमसे छूटती जाती हैं। यहांपर जिसकी प्रवृत्ति दुनियामें सर्वथा नहीं है वह बात सध नहीं पाती। जैसे कि, दुनियामें कोई भी नग्न होकर रहता नहीं और दुनियाकेलिये यह असह्य भी है। सर्व प्रकारके वाकी रागांश छूट सकते हैं पर नग्नताकी लज्जा दुनियामें छूट नहीं पाती। बस, इसलिये इस दर्जेमें रहनेवाला भी चाहें वस्त्रोंको परिग्रह व हेय समझता है पर छोडकर नग्न होनेका साहस तो भी नहीं कर सकता। इसीलिये पांचवे गुणस्थानवाला जीव दुनियाके भीतर रहनेवाला गृहस्थ समझा जाता है।

दुनियाकी तरफसे वेपरवाही जब हो जाती है तब फेंकने लायक उन सभी चीजोंको मनुष्य फेंक देता है कि जिनका संबंध केवल शरीररक्षाकेलिये व आरामकेलिये है। तो भी मलमूत्रादिसे स्पर्श न करके शुद्ध रहना यह व्यवहार-धर्म है। इसलिये कभी कभी मल मूत्रादिकी हाजत होनेपर धोकर शरीरको शुद्ध बनालेनेकी इच्छासे शुद्ध जलका एक साधासा लकडीका वर्तन रखनेकी मंद इच्छा उस अवस्थामें भी जीवको रहती है। इसको रखना किसी तीव्र राग-द्वेषका कार्य नहीं है। वस्त्रका रखना इससे बहुत बडी तीव्र कामवेदनाकी पराधीनताको सूचित करता है, जो कि संसार स्थिर रखनेकी जड है। इसीलिये निर्विकार चेष्टा होजानेपर वस्त्र रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वह मनुष्य एकाकी जंगलोंमें रहने लगता है। इसको छट्ठा गुणस्थान कहते हैं। ऐसी अवस्थामें विरक्तता तो इतनी बढजाती है कि शरीरको भी वे अलग करदें। परंतु शरीर फेंका नहीं जाता इसलिये उसको साथ लेकर रहना पडता है। तपश्चरणके द्वारा आत्माको स्वतंत्र करलेनेकी शक्ति प्रगट करनेतक इस शरीरको संभालकर रखना पडता है। इसीलिये तबतक और सारे परिग्रह छूट जानेपर भी भोजन लेना ही पडता है। पर जब कि वह साधु उस भोजनका लेना ही अपनी हीन

दशाका कारण समझता है तो सहज छूटजानेवाले वस्त्रादि परिग्रहकी इच्छा क्यों करेगा? इससे तो और भी हीन दशा होना संभव है। यदि कोई साधु भोजनमें लंपट होता दीखै तो वह निन्दाकी बात है। देखोः—

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं,
गृह्णन्तः स्वशरीरतोपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं,
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥१५९॥

अर्थः—मनस्वी आत्माधीन रहनेवाले साधु शरीरसे पूर्ण विरक्त रहते हैं, सर्व जगके कल्याणकी कामना रखते हैं। ऐसे रहकर कल्याण करनेकी आशासे गृहस्थोंका भोजन स्वीकार करते हैं। वह भी भोजनमात्र, और कुछ नहीं। देनेवाले भी गृहस्थ होते हैं जो कि अपने निर्वाहकेलिये घरमें भोजन तयार करते ही हैं। उनको साधुओंकेलिये जुदा कष्ट उठाना नहीं पडता। इतनी बातें होते हुए भी भोजन ग्रहण करना उत्तम साधुओंको एक लज्जाकी बात जान पडती है। असली साधुओंकी इतनी निरपेक्ष अवस्था होती है। पर हाँ, इस कलियुगके अपरिहार्य सर्वव्यापी माहात्म्यने कहीं भी अपना असर डालनेसे छोडा नहीं है। इसीलिये आज बहुतसे साधुओंमें भी विषयोंसे ममत्व—पूर्ण राग छूटा हुआ नहीं दीखता। देखिये, जहां कि भोजन लेना भी लज्जा समझी जाती थी वहां आज यह विचार होगया है कि साधुपद धारण करलिया कि गृहस्थोंसे भोजन लेना ही चाहिये। गृहस्थोंका भी इधर यह हाल है कि मुनियोंको भोजन देनेमें वे अनेक ऊहापोह करते हैं; मुनियोंको अपने अधीन और उनसे भी अपनेको उत्कृष्ट समझते हैं। इत्यादि रागद्वेषका प्रवाह दोनो ही तरफ बढने लगा है। यह सब कलिकालकी अखंड महिमाका फल है। इधर गुरु लोभी, उधर चेला लालची, यह कहावत पसरती जा रही है। अथवा, सारे धर्मकी सृष्टिका प्रादुर्भाव करनेवाले भगवान् तीर्थंकर सरीखोंके साथ घट—पटादि

बनाकर पेट भरनेवाले कुँभार कोलियोंने भी अपनी बराबरी करना चांहा तो आज कुछ आश्चर्य नहीं है'।

भोजनादिमें भी प्रीति करना साधुको जब कि उचित नहीं है तो उसे कैसा रहना चाहिये ?

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा,
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा ।
दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रप,
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितिस्तुष्यसि ॥१६०॥

अर्थः—तीनो जगतका स्वरूप जानलेनेकेलिये समर्थ तेरा ज्ञान कर्मोंने नष्ट करदिया और आत्मामेंसे उत्पन्न होनेवाला स्वाधीन सुख भी इन कर्मोंने ही निर्मूल नष्ट कर रक्खा है। इतना नाश करके फिर थोडेसे आकुलतापूर्ण पराधीन इंद्रियविषय-जन्य सुखका संयोग तेरे साथ इन कर्मोंने लगादिया है। पर तू इतना दीन व नीच है कि उसीमें तृप्ति मानने लगा। अरे निर्लज्ज, जिसने आत्मकल्याणकेलिये यह मुनिपद धारण किया और अनेक उपवासादिकोंके कष्ट भोगना भी स्वीकार किया बह तू थोडेसे तुच्छ भोजनकी तरफसे फिर भी प्रेम छोडता नहीं है ? उसमें अब भी तेरा प्रेम जुड रहा है ? अब भी तू उसे पाकर संतुष्ट होता है ! कर्मोंने तेरा सब कुछ हरण करके कुछ थोडासा व मिथ्या सुख दिखा रक्खा है। पर तू तो भी और इस पदमें आकर भी उसकी गृद्धता छोडता नहीं है; इस तेरी दीनताका क्या ठिकाना है ? तुझै चाहिये कि इससे पूरा ममत्व छोड दे। और यदि,—

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशयेः ॥१६१॥

अर्थः—भोगोंमें ही तेरी तृष्णा बढ रही है तो भी तू थोडी देरतक तो थोडासा कष्ट सह। यह मनुष्य-आयु पूर्ण हुआ कि इंद्रिय-

---

१ भवेदद्य श्वो वा प्रकृतिकुटिले पापिनि कलौ। घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥

भोगोंकी खान जो स्वर्ग, वही तेरेलिये तयार है। पर उसको प्राप्त होनेकी योग्यता जो मिलरही है उसे क्यो उतावला होकर बिगाडता है? थोडी ही देर वाद उस सुखकी अवस्था तयार होकर मिलनेवाली है। मुनिपद, मानो उस सुखको तयार करनेका साधन। अरे तपस्वी, इस अधकच्ची हालतको देखकर भी यदि इसे स्वस्थ होकर सहेगा नहीं; किंतु इस अवस्थामें मिलनेवाले भोजनादिमें प्रवृत्त होगा तो जैसे भोजन न पकने देकर उसके कच्चे पानी आदिको पीडालनेसे आगे पककर मिलनेवाला भोजनका आनंद नष्ट हो जाता है वैसे तुझे अपूर्व मिलनेवाला आगामी स्वर्ग-सुख नष्ट हो जायगा।

विषयोंमें इच्छा न होनेपर भी जब कि मोह-कर्मका उदय प्राप्त होता है तब भोजनादिमें परवश प्रवृत्ति हो ही जाती है। वह कैसे रुक सकती है? इसका उत्तरः—

निर्धत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥१६२॥

अर्थः—दैव कुपित हो तो किसीको दरिद्री बनादे, आंखें फोडदे, या बहुत करै तो इस शरीरसे जुदा करदे। पर जो साधु धनादिकोंका छूट जाना ही चाहते हैं व शरीरादिसे छुटकारा मिल जानेमें हीं अपना कल्याण समझते हैं और जिनके अंतरंग ज्ञानचक्षु प्रकाशमान होचुके हैं उनका वह दैव क्या करसकता है? दैव यदि दुःख दे तो इतना ही देसकता है पर उस दुःखकी जिन्हें परवाह ही नहीं है उनका दैव क्या करसकता है? दैव बहुत करै तो बाहिरी संयोग अनिष्ट प्राप्त करदे। पर जो बाहिरी वस्तुओंके पराधीन ही नहीं हैं उन्हें दैव क्या कष्ट देसकता है?

भावार्थः—जिनको आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है उन साधुओंको

१ तत्काल उत्पन्न हुई विषयतृष्णा हटानेकेलिये यह लालच है परंतु वास्तवमें तो भोगोंकी आकांक्षा सर्वथा छूट जानेसे ही कल्याण होसकता है।

मोहका उदय कुछ नहीं करसकता है। मोहका उदय होते हुए भी वे साधु भोजनादिके वश नहीं होसकते हैं। इसलिये जब कि मोहका तीव्र वेग आया दीखता हो तब साधुको आत्मचिंतवन करके समय विताना चाहिये।

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशानिराशता ॥१६३॥

अर्थः—दैवसे डर उन्हींको होसकता है कि जिन्हें जीनेकी आशा व धन दौलतकी आशा लगी हुई है। आयुके अधीन जीवन है और वेदनीय मोहनीयादि कर्मोंके अधीन विषयजनित सुख-दुःख हैं। इसीलिये जिन्हें इनकी चांह है उन्हींके ऊपर दैव अपना सामर्थ्य प्रगट करसकता है। परंतु जिन्होंने विषयजंजालसे छुटकारा पानेकी ही आशा लगा रक्खी है उनका दैव क्या करसकता है? दैव यदि कुपित हुआ तो क्या करेगा? यही न, कि उनके शरीरका नाश करदे व धन दौलत, स्त्रीपुत्रादिकोंसे वियोग करादे। पर इसकी आशा तो वे पहलेसे ही लगाये बैठे हैं।

भावार्थः—जो जगसे उदास होकर बैठे हैं उनको दैव दुःखी नहीं करसकता है। एक तो वे हानि-लाभ, मरना, जीना, इन सभीको बराबर देखते हैं, इससे आत्माको शांत बना चुके हैं। दूसरें, वे कुछ दिन वाद कर्मोंसे पूरे ही मुक्त हो जायंगे। ऐसे साधुओंका दैव क्या करसकता है? हाँ, जो घर-द्वार छोडकर भी जब अपना निर्वाह याचना विना होना असंभव समझकर याचना करने लगते हैं तव उन्हें दैव चांहे जैसा दुःखी कर सकता है। क्योंकि, जिन्हें वे चांहते हैं वे चीजें दैवाधीन हैं। चांहे तो दैव उनका संयोग होने दे और चांहे तो न भी होने दे। इसीलिये याचनासे सुख मिलना कठिन है और याचना करना छोड देनेपर तो निर्द्वन्द्वता प्राप्त होजानेपर सुख ही सुख है। असलमें बात तो यह है कि विषयोंकी आशामात्र ही दुःखदायक है। देखोः—

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः ।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥ १६४ ॥

अर्थः—दो ही मनुष्य स्तुति व निन्दाकी सीमाको पहुचते हैं। जो तप करके आत्मकल्याणके साधनेकी इच्छासे राज्य भोगादि बडीसे बडी विषयसुखसामग्रीको छोडता है वह तो कीर्ति व स्तुतिकी सीमाको पालेता है; और जो धारण किये हुए तपको भी विषयोंकी सुखमूलक आशासे छोडता है वह निन्दा व अकीर्तिकी सीमाको प्राप्त होता है। ठीक ही है, उसके समान और कौन मूर्ख होगा जो कि आत्मकल्याणके सच्चे मार्गमें प्रवेश करके भी उससे पराङ्मुख होगया हो। जिन्हें विवेक–नेत्र प्राप्त नहीं हुए वे विषयोंमें फसकर यदि दुःखी होते हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं है। पर दीपकको हाथमें पकडकर भी जो खड्डेमें पड जाय उसका आश्चर्य है। उसीकी लोग अति निन्दा करते हैं। और जो तपश्चरण करके आत्माको परम पवित्र बनाते हैं उनकी स्तुति तो देवोंके स्वामी इंद्र भी करते हैं; मनुष्य स्तुति करें, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है?

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं,
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम् ।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं,
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६५ ॥

अर्थः—कोई चक्रवर्ती होकर भी यदि अपने प्राप्त हुए चक्र तथा और भी संपूर्ण ऐश्वर्यको तप करनेकी इच्छासे छोडदे तो कुछ अनोखी बात नहीं है। क्योंकि, जो चक्रवर्ती बन जानेपर भी सुख नहीं मिलसके हों वे सुख तप धारण करनेसे मिलते हैं। तपका फल यह है कि जिसकेलिये जगमें कोई उपमा नहीं, जो शाश्वत व स्वाधीन, वह सुख प्राप्त होता है। चक्रवर्तीका सुख कितना ही बडा हो परंतु वह अनेकवार पहिलेका अनुभव किया हुआ होता है, पराधीन व अं-

तमें नष्ट होजाने वाला होता है। इसीलिये उसे छोडकर जो अनुपम स्वाधीन, नित्य सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न करै तो यह बुद्धिमानी ही है।

हाँ, यह बडा आश्चर्य है कि विषके तुल्य विषयोंको दुःखदायक समझकर भी व एक वार इसीलिये उन्हें छोडकर भी, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तपमें लगकर भी फिरसे भोगोंकी आशा उत्पन्न कर तपको छोडदिया जाय। जो ऐसा करता है उसकी भूलका क्या ठिकाना है?

भावार्थः—अधिक सुखकेलिये थोडासा सुख छोड देना, यह बुद्धिमानी है। और थोडे व तुच्छ सुखकेलिये अधिक सुख तथा अधिक सुखके कार्यको छोड बैठना मूर्खता है। संसारमें बडेसे बडा सुख चक्रवर्तीको मिल सकता है। परंतु तपके सामने वह भी कोई चीज नहीं है। इसीलिये तपको पाकर उससे उदास होना और विषयोंकी तरफ फिरसे मोहित होना वडी ही भारी भूल है। समझ-बूझकर यदि कोई ज्ञानी मनुष्य ऐसा करै तो और भी बडा आश्चर्य है। इसीलिये अरे भाई, जब कि तू तप करनेमें प्रवृत्त होचुका है तो अब विषयोंकी तरफ झुकै मत। याचनाकी इच्छा करनेसे यह मालूम पडता है कि तुझे विषयोंके विना रहा नहीं जाता। पर याचना की कि तू ऊपरसे नीचे गिरेगा। इसका तुझे डर नहीं है? देखः—

शय्यातलादपि तुकोपि भयं प्रपातात्,
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्,
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥१६६॥

अर्थः—जब कि छोटासा बच्चा भी खाटके ऊपर बैठा हुआ नीचेकी तरफ देखता है तो ऊंची उस खाटपरसे नीचै पडजानेको वह डरता है; क्योंकि, नीचै गिरजानेसे मुझै चोट लगजायगी, यह बात वह समझता है। पर आश्चर्य कि, तू बुद्धिमान् होकर भी तपके उच्च पदसे नीचे गिरनेको डरता नहीं है। इस तपको छोडकर जब तू हीन दीन संसारी

जनोंकी श्रेणीमें आकर पडेगा तब जो आत्मा तपसे अति सुखी होनेवाला था वही संसारके आघातोंसे कितना दुःखी होगा, इसकी तुझै कुछ संभावना भी है कि नहीं ? जो ऊपरसे नीचे गिरता है उसे चोट लगती ही है जिससे कि वह अति दुःखी होता है। यह तपका पद तो बहुत ही ऊंचा है। जिसको स्वर्गवासी देवेन्द्र भी नमते हैं उसकी ऊंचाईका क्या ठिकाना है ? यह तप स्वर्गकी अवस्थासे भी अधिक ऊंचा व श्रेष्ठ है। इसीलिये तपमें स्थित हुए मनुष्यको इंद्रादिक भी पूजते हैं। संसारमें सबसे ऊंचा स्वर्ग। पर जब कि तप स्वर्गके पदसे भी ऊंचा है तो उससे अतिहीन अवस्थारूप संसारमें नीचे गिरना अति दुःखदायक क्यों नहीं होगा ? और तू कुछ अज्ञानी नहीं है। फिर भी तू उसको छोडकर विषयोंकी तरफ नीचा झुकनेमें डरता नहीं है यह आश्चर्य है !

विशुध्यति दुराचारः सर्वोपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः ॥१६७॥

अर्थः—तपसे बडेसे बडे पातक भी संपूर्ण नष्ट हो जाते हैं। ऐसी महिमायुक्त तपको कितना सँभालकर रखना चाहिये ? पर विषयोंमें अति लुब्ध हुए कोई कोई नीच प्राणी उस तपको भी विषयवासनाके द्वारा मलिन करदेते हैं।

भावार्थः—जीवको जबतक सुखके सत्य मार्गका ज्ञान नहीं हुआ हो तबतक वह नीच कर्म करनेसे ही सुखकी प्राप्ति होना समझता है। और इसीलिये वह नीच कर्मोंसे उपरत नहीं होता। वह नीच है। पर जो आत्मकल्याण करनेकी प्रतिज्ञा कर इस तपमें आकर लगता है वह भी यदि तपको करते करते संसारी जनोंकीसी नीच वासनामें फस जाय अथवा तप व मोक्षमार्गको ही उलटा समझकर वैसा चलने लग-जाय तो वह अति नीच है। इसलिये तपस्वीको चाहिये कि वह तपको वीतराग अवस्थामें ही रहने दे। तपको विषयवासनामें मिला देनेसे संसारी जनोंमें तथा तपस्वीमें अंतर ही क्या रहेगा ?

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किंतु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।
पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः,
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥१६८॥

अर्थः— जगमें आश्चर्यकारी बहुतसी बातें हैं व सदा होती रहती हैं। परंतु हम उन्हें देखकर भी आश्चर्य नहीं मानते; और असली आश्चर्य उनमें है ही नहीं। वस्तुओंका जो परिवर्तन कारण पाकर होनेवाला है वह होगा ही। उसमें आश्चर्य किस बातका ? हाँ, ये दो बातें हमको आश्चर्ययुक्त जान पडती हैं। कोनसी ? एक तो यह कि, अतिदुर्लभ अमृतको पीकर उसे उगलदेना, दूसरी यह कि, संयमकी निधि पाकर उसे छोडदेना । जो ऐसा करते हैं वे भाग्यहीन समझने चाहिये ।

भावार्थः—जो अति मूर्ख होगा वही अमृत पीनेको मिलनेपर भी, तथा उसे पीलेनेपर भी फिर उगलेगा। लोग यह समझते हैं कि अमृत पीलेनेसे फिर मृत्यु पास नहीं आता। जब मरण नहीं तो बुढापा एक आधासा मरण ही है; वह भी क्यों आवेगा ? वस, अमृत पीनेवाला मनुष्य सदा आनंदमें मग्न रहसकता है। उसे कभी किसी प्रकारकी आपत्ति, क्लेश सहने नहीं पडते। जब कि अमृतकी यह बात है तो संयम तो सर्वथा ही कर्मादि दुःखकारणोंका निर्मूल नाश करनेवाला है। इसलिये संयम-निधिको पाकर जो छोडना चाहता है वह तो बहुत ही बडा मूर्ख है। उसकी इस अज्ञानपूर्ण कृतिपर जितना आश्चर्य हो उतना ही थोडा है। उसके बराबर जगमें भाग्यहीन और कौन होगा ? इस अचिरजसे और कौनसा अचिरज बडा होगा ? सबसे बडा यही अचिरज व यही अनोखी बात है। तब क्या करना चाहिये ? तप व संयम ये ही असली नित्य सुखके साधन हैं इसलिये तप व संयमको कभी छोडना नहीं चाहिये। देखोः

इह विनिहितबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो,-
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः,
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥१६९॥

अर्थः—अरे भाई, तेने मुनिपद धारते ही बाहिरी शत्रुओंका तो उच्छेद कर ही दिया है। पापकर्मोंको संचित करानेवाले विषय व परिग्रहोंका आरंभ करना मुनिपद धारते ही छूट जाता है। ये आरंभ ही बाहिरी शत्रु हैं। इनके रहनेसे जीवोंके अंतर-परिणाम शुद्ध नहीं रहपाते। इसीलिये ये बाहिरी उपाधि हैं। तू इनका अभाव तो कर ही चुका है। जब कि बाहिरी विघ्नोंका नाश होचुका हो तो फिर अंतर-शत्रुओंका नाश करनेकेलिये अपनी आत्मशक्तिको और भी बढाना चाहिये। पर उसे भी तू प्राप्त कर चुका है। संयमके अनेक प्रकारोंको साधनेसे आत्मबल बढता है। वह संयमानुष्ठान तेने बहुत दिनोंसे सुरू कर रक्खा है। इसलिये तुझै अंतर-शत्रुओंका नाश करनेमें अब कोई दूसरे विघ्न तो बचे दीखते नहीं हैं; कि जो संसारी क्षुद्र प्राणियोंको आड आते हैं। हाँ, भोजन करना, चलना, बैठना, सोना—ये थोडेसे व छोटेसे आत्मकल्याण साधनेमें विघ्नरूप शेष रहे हुए हैं। क्योंकि, मुनिपद होजानेपर भी भोजन-शयनादि कुछ प्रमादवर्धक क्रिया बाकी रह जाती हैं, जो कि शीघ्र छूट नहीं पाती। यों तो उन्हें भी छोडनेका प्रयत्न तुझै करना ही चाहिये। पर, जबतक वे क्रियाएं निश्शेष छूट नहीं पातीं तबतक भी उनसे सावधान होकर तो रह। क्योंकि, तुझै अंतर-शत्रुओंका नाश करना अवश्य है। यदि इन भोजनादिक कार्योंमें तू मोहित हुआ तो कालान्तरमें धीरे धीरे महापाप तक करनेको तत्पर हो जायगा।

---

१ 'निजपरिरक्षा-' ऐसा भी पाठ होसकता है।

२ मुनियोंके अंतरंग शत्रु रागद्वेषादि कषाय। कषायोंको बढानेकेलिये निमित्त जो बाहिरी परिकर, वह बाह्य शत्रु समझना चाहिये।

किसी भी बुरे कर्मकी आदत या संबंध थोडासा भी परिपाकमें दुःख देनेवाला होता है। वह इसीलिये कि, थोडीसी आदत भी बढते बढते अपने अंतिम ध्येयतक मनुष्यको कभी न कभी पहुचा देती है। इसी-लिये यदि तुझे अपनी पापकर्मोंसे रक्षा करनी है तो तू इन भोजनादि तुच्छ विषयोंमें मोहित मत हो। सदा सावधान रह। तभी तू अपनी रक्षा कर सकेगा। जिसको अपना कोई बडासा कार्य सिद्ध करना होता है वह अपने कार्यमें विघ्न डालनेवाले बाहिरी, भीतरी सभी शत्रुओंसे बचता रहता है।

भोजनादि विषयोंमें प्रमादी न बननेका उपायः—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम् ॥१७०॥

अर्थः—वंदरोंका स्वभाव चंचल होता है। पर वे फल-फूलोंसे हरे भरे वृक्षोंपर रमजाते हैं। वैसा उन्हें कोई वृक्ष यदि मिल जाता है तो फिर वे वहांसे हटते नहीं हैं। मन, यह एक बंदरके तुल्य है, अति चंचल है। फल पत्ते व डालियोंसे भरा हुआ वृक्ष यदि इसकेलिये हो तो उसपर यह रम सकता है; फिर वहांसे कहीं भी नहीं हटेगा। यह सोच विचारकर संत पुरुषोंने इस मनको रमने योग्य वृक्ष ढूंढ निकाला। वह क्या? शास्त्र। मन रमनेकेलिये शास्त्र ही सबसे अच्छा वृक्ष है। इसपर रमानेसे कुकर्म होनेसे भी रुकते हैं और मनका विनोद भी बराबर सधता है। इस शास्त्र-वृक्षमें वृक्षोंकीसी सभी चीजें मौजूद हैं। देखोः-

इस शास्त्रमें अनेकान्तस्वरूप जीवादि पदार्थ भरे हुए हैं। ये ही इस श्रुतस्कन्ध या शास्त्र-वृक्षके फलफूल हैं, कि जिनके भारसे यह वृक्ष खूब ही नीचेकी तरफ झुक रहा है। अनेक युक्ति प्रत्युक्तियोंसे पूर्ण जो संस्कृत प्राकृत वचन हैं वे इस श्रुतस्कन्धके पत्ते हैं। वे भी इसमें

खूब ही लहलहा रहे हैं। अनेक सत्य नयमार्गोंका वर्णन भरा हुआ है जिससे कि मिथ्या कल्पना व मिथ्या सिद्धान्तोंका खंडन होता है तथा सत्य सिद्धान्तोंका मंडन होता है। ये नय ही इस वृक्षकी सैकडों शाखाएं हैं। विश्वस्वरूपका निरूपक होनेसे यह वृक्ष अत्यंत उन्नत होरहा है। सत्य व विशद मतिज्ञानद्वारा इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये यह मतिज्ञान ही इस श्रुतस्कन्धकी जड है। ऐसे इस शास्त्र-वृक्षपर बुद्धिमान् हितेच्छु जनोंको यह मन-बंदर सदा ही रमाना चाहिये।

ऐसा किया तो विषयोंमें उसको प्रवेश होनेका समय ही नहीं मिलेगा। उस समय पापकर्मोंसे आत्माकी रक्षा करलेना कोई बडी कठिन बात नहीं है। यह ठीक बात है कि जो शास्त्रका तत्त्वचिंतवन करनेमें मनको रोकता है वही आत्माका पूर्ण कल्याण सिद्ध करसकता है। शुक्लध्यानमें भी शास्त्रका चिंतवन किया जाता है जिससे कि केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार देखनेसे मालूम होगा कि साधुओंकी कोई एक भी ऐसी क्रिया नहीं है कि जिसमें तत्त्व व शास्त्रका चिंतवन छूट जाता हो अथवा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग न रह सकता हो। जो साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगको क्षणकेलिये भी छोडता है वही तत्काल मुनिपदसे भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिये साधुओंको शास्त्राभ्यासमें रमानेका यह उपदेश दिया गया है।

श्रुतज्ञानमें मन लगाकर चिंतवन क्या करै?

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा॥ १७१॥

अर्थः—प्रत्येक पदार्थ किसी एक इष्ट स्वरूपकी मुख्य भावना-वश उस स्वरूपको धारण करता है, तो भी केवल वैसा ही नहीं है। तब? और और स्वरूपोंकी अपेक्षा और और प्रकारका भी है। जैसे कि एक कोई पदार्थ उसकी विशेष अवस्थाओंकी तरफ लक्ष्य देनेसे प्रतिक्षण विनश्वर स्वभाववाला दीख पडता है। परंतु वही सामान्य दृष्टिसे

देखनेपर सदा एकसारखा दीख पडेगा। इसीलिये जगके सारे तत्त्वोंको सामान्यतया कहना हो तो वैसे हैं भी और वैसे नहीं भी हैं; अर्थात्, प्रत्येक पदार्थ तत् अतत्स्वरूपी हैं ऐसा कहनेमें आता है। और इसीलिये जगके कुल तत्त्व अनाद्यनंत हैं। विनष्ट होनेवाला एक भी तत्त्व नहीं है। इस प्रकार विश्वतत्त्वोंका ज्ञानी मनुष्य सदा चिंतवन करै। एक ही पदार्थको तत् अतत्स्वरूपी मानना झूठा नहीं है। देखोः—

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः॥ १७२॥

अर्थः—एक एक पदार्थ प्रत्येक क्षणमें ध्रुव भी अनुभवसिद्ध जान पडता है और उत्पत्ति तथा नाशयुक्त भी उसी समयमें जान पडता है। यह कैसे मालूम करना चाहिये? यों कि,

किसी भी वस्तुको लीजिये; वह, परस्परके पूर्वोत्तरकालवर्ती पर्यायोंमें भेद देखनेसे एक दूसरेसे जुदा जान पडेगा परंतु वही पदार्थ सामान्य दृष्टिसे देखनेपर एकसरीखा अथवा अखंड दीख पडेगा। इसलिये मानना पडता है कि जुदा जुदा दीख पडता है इस कारण पदार्थ सदा एकसा नहीं टिकता; किंतु पूर्व पर्यायोंका नाश व उत्तर पर्यायोंकी उत्पत्ति होती ही रहती है। और इसीलिये यावत् पदार्थ प्रतिक्षणमें उत्पत्तिनाशयुक्त मानने पडते हैं।

अब देखिये पदार्थोंका नित्यस्वभाव। किसी पदार्थके पूर्वोत्तर पर्यायोंपर यदि विशेष लक्ष्य न हो तो पदार्थ सर्वदा एकसा ही जान पडेगा। जब कि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें जुदायगी दीख ही नहीं पडती तो प्रत्येक पदार्थको अनादिसे ध्रुव-शाश्वत या नित्य क्यों न माना जाय? बस, इस प्रकार पदार्थोंमें तीनो स्वभाव सिद्ध होते हैं। इसका एक उदाहरणः—

एक किसी माटीको लीजिये। वह माटी बिगडकर उसमेंसे घडा भी पैदा होता है और वह फूट जानेपर कपाल या टुकडे भी

उसीमें पैदा हो जाते हैं। अंब घडेकी हालतमें यदि किसीको विखरी हुई धूलसमान माटीकी जरूरत लगी हो तो वह मनुष्य घडेको देखता हुआ भी कहता है कि यह फूटी माटी नहीं है। और जिसे घडेकी ही जरूरत है वह कहता है कि घडा तयार है। जिसे कि उसके मूल्यकी तरफ लक्ष्य हो वह घडे व फूटी माटी, इन दोनोको तुल्य माटीमोलके समझकर दोनोको माटी ही कहता है। उसे उसके आगे पीछेके पर्यायोंमें कुछ भेद ही नहीं जान पडता। ये तीनो ही भाव एक ही घडेके देखनेसे उत्पन्न होते हैं[1]। इसलिये एक एक वस्तुके ही तीनो स्वभाव मानना उचित है। यदि ये तीनो स्वभाव एक ही पदार्थके न होते तो एक पदार्थके देखनेसे तीन प्रकारके विचार अथवा भेद-अ-भेदरूप दो प्रकारके विचार कभी उत्पन्न नहीं होते[2]। पर ऐसे विचार एक ही पदार्थके देखनेपर भी उत्पन्न तो होते हैं। इसलिये उन विचारोंकी उत्पत्तिके कारणरूप जो स्वभाव वे एक एक पदार्थमें मानने पडते हैं। और भी:—

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्।
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप,—
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥१७३॥

अर्थः—तत्त्व न तो केवल नित्य ही है और न क्षणिक ही है। केवल ज्ञानमात्र भी तत्त्वका स्वरूप नहीं है और कुछ नहीं हो ऐसा भी नहीं है। तब ? प्रतिक्षण तत् अतत् स्वरूपोंको धारण करनेवाला तत्त्व मानागया है। किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति व नाशकी अवधि नहीं ठहर

---

१ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ (आप्तमीमांसा).

२ अभिधानप्रत्ययवशादर्थस्वरूपनिर्धारणम्। अन्यथा कथमप्यर्थस्वरूपनिश्चयो न स्यात्। अर्थे यथाभिधानं दृश्यते यथा च दृष्ट्वा प्रतीतिर्भवेत्तथैव सोर्थ इति निश्चेतव्यम्।

सकती है। जो कोई भी तत्त्व है वह सदासे है व सदा ही रहेगा। इसीलिये उसे आद्यन्तवर्जित कहते हैं। जैसा एकका स्वरूप वैसा ही यावत् पदार्थोंका स्वरूप समझना चाहिये। अर्थात्, किसी भी एक पदार्थको देखनेसे वह ऐसा ही दीखेगा; और इसीलिये यही सर्व विश्वके तत्त्वोंका स्वरूप समझना चाहिये।

भावार्थः—(१) सांख्यमतके लोग तत्त्वोंका स्वरूप सर्वथा नित्य मानते हैं। (२) बौद्धदर्शनवाले तत्त्वोंका स्वरूप क्षणविनाशी मानते हैं। (३) ज्ञानाद्वैतवादी वेदान्तादि दर्शनोंमें केवल ज्ञान ही ज्ञान माना गया है। बाह्य वस्तुओंका अस्तित्व उन्हें मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि जो कुछ दीख पडता है वह सब मनकी भावना है। वास्तवमें बाह्य कोई पदार्थ नहीं है। जब किसी जीवका किसी एक चीजकी तरफ उपयोग नहीं लग रहा है तब उस चीजकी कल्पना भी नहीं होती। और इसीलिये उस समय उसके माननेमें भी कोई प्रमाण नहीं है। यह हुआ तीसरा पक्ष। (४) चौथा ऐसा पक्ष है कि बाहिर भीतर कुछ है ही नहीं। जिस किसी बातकी तरफ विचार करने लगते हैं उसीमें अनेक आशंकाएं उठने लगती हैं। वस्तुओंका स्वरूप न तो परस्परमें अभिन्न ही सिद्ध होता है और न भिन्न ही सिद्ध होता है। वस्तुओंका कैसा भी स्वरूप माना जाय परंतु सभीमें दोष व अपवाद-पना दीख पडता है। कोई भी एक स्वरूप निर्दोष व शाश्वतिक दीख नहीं पडता है। इसीलिये वस्तु कुछ है ही नहीं यह मानना उचित जान पडता है। इस प्रकार तत्त्वोंके माननेमें स्थूल भेद रखनेवाले ये चार मत हैं। चौथेका नाम तत्त्वोपप्लववादी या अभाववादी है।

(१) श्लोकमें इन चारो पक्षोंका उल्लेख करके यह कहा है कि इन चारोंमेंसे किसी भी एकका कहना उचित नहीं जान पडता। क्योंकि, ऊपर कहा हुआ एक भी प्रकार अनुभवसिद्ध नहीं होता। जब देखते हैं तो वस्तुओंका स्वरूप सदा एकसा या टिकाऊपना नहीं दीख

पडता। कुछ न कुछ चंचलता सभीमें होती दीखती है। इसलिये वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है।

(२) चंचलता या उथलापथल कैसा भी हो परंतु किसी भी वस्तुकी शृंखला टूटती नहीं दीखती है। परिवर्तन होकर भी वस्तुओंका कोई-न कोई रूप सदा बना ही रहता है। जैसे अंकुरकी उत्पत्ति निराधार न होकर बीजमेंसे ही होती है। यदि वस्तुमात्र एक दूसरेसे संबंध न रखकर नवीन नवीन ही उत्पन्न हो व पहली अवस्थाओंके नाश भी सर्वथा होते जांय तो विना बीजके भी उत्पत्ति होनी चाहिये थी। पर नहीं होती। इसीलिये तत्त्व केवल क्षणविनाशी भी नहीं है।

(३) बाहिरी पदार्थोंका सद्भाव तो अनेक युक्तियोंसे जाननेमें आसकता है व अनुभवके भी अनुकूल है। यदि ज्ञानमात्र ही वास्तविक तत्त्व होता तो उसमें अनेक रूपान्तर होना संभव नहीं था। कारणके विना कार्यका उत्पन्न होना जिस प्रकार असंभव है उसी प्रकार कारणोंमें भेद न रहते हुए कार्योंमें विचित्रता होना भी असंभव है। वेदान्तका वचन है कि वस्तुओंका सर्वथा अभाव मानना उचित नहीं है; क्योंकि, वस्तुएं देखनेमें आती हैं। बस, जिस प्रकार सद्भाव दीखनेसे उनका अभाव माना नहीं जासकता, उसी प्रकार जैसा दीखता हो और जहांपर दीखता हो वह वैसा और वहींपर मानना तथा अवश्य मानना उचित जान पडता है। वस्तुएं जड व बाहिरकी तरफ पडी हुई भी जान पडती हैं इसलिये ज्ञानके अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका मानना भी न्याययुक्त है।

(४) जब कि, बाहिरी वस्तुओंका मानना भी न्याययुक्त है तो सर्वथा वस्तुमात्रका अभाव मानना तो सहजमें असत्य जान पडेगा। यदि वस्तुमात्रका अभाव हो तो बोलने व कहनेवालेका भी अभाव रहेगा। और इसीलिये इस अभाव तत्त्वका स्थापित करना भी कठिन होजाता है।

---

१ "नाभाव उपलब्धेः" वेदान्तसूत्र दूसरा अध्याय।

जब कि वस्तुस्वरूप दिखानेवाले इन चारो पक्षोंमें दोष ज्ञात पडते हैं तो वस्तुस्वरूप निर्दोष कैसा होगा? इस प्रश्नका उत्तर श्लोकके उत्तर आधे भागमें दिया है। वह यों कि, तत्त्वोंका स्वरूप प्रतिक्षण परिणामी व सदा स्थिर है। अथवा नित्यानित्य, एकानेक भिन्न अभिन्न व सत् असत् ऐसा वस्तुओंका स्वरूप है। और यह स्वरूप किसी एक ही तत्त्वका नहीं है किंतु सभी तत्त्वोंका स्वरूप ऐसा ही है। यह स्वरूप सदा ही बना रहता है; न कि कभी नित्य कभी अनित्य। इसका समर्थन पहिले किया जाचुका है कि जो पदार्थ जैसा दीख पडता हो व जैसा कहनेमें आवै वही व वैसा ही उसका स्वरूप मानना चाहिये। वस्तुएं नित्यानित्य ही दीखनेमें आती हैं व सामान्य-विशेष अपेक्षा वैसी ही कहनेमें आती हैं इसालिये नित्यानित्य आदि स्वरूप ही ठीक जान पडता है।

आत्माका परिचय कैसे हो?

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

अर्थः—उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मोंका सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओंका सामान्य लक्षण। इन्ही सर्व वस्तुओंके अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्त्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है कि जो बाकी सर्व वस्तुओंका है। परंतु जीव जीवोंका निजी तत्त्व है व उसीके कल्याणकेलिये सारा घटाटोप है—शास्त्रोंका उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म, ये सर्व कर्म केवल जीवके ही कल्याणार्थ कहे व किये जाते हैं। इसलिये जीवकी निराली पहिचान होना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याणके मार्ग उसके जाननेपर ही जाने जासकते हैं। तब?

जीवका स्वभाव ज्ञान है। जीवोंको जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ, होते दीखते हैं वह सब रागद्वेषके वश होनेसे, व अज्ञान

१ श्रेयोमार्गप्रतिपित्सा आत्मद्रव्यप्रसिद्धेः, इति श्रीअकलंकदेवाः।

रहनेसे। इसी प्रकार जहां जहांपर राग-द्वेषकी कमी व ज्ञानकी वृद्धि दीख पडती है वहां वहांपर सुख-शांति व अनुद्वेग देखनेमें आता है। वस्तुमें उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तुका मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशांति अथवा उथलापथल होना विजातीय-संयोगका कार्य है। इसीलिये क्षोभरहित शांत होकर ठहरना वस्तुका मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होनेपर आत्मामें क्षोभ-अशांती मिटती है और शांति प्राप्त होती है। राग-द्वेषकी अवस्था जैसी जैसी मंद होकर तत्त्वज्ञानकी वृद्धि होती है वैसी ही वैसी जीवोंको शांति प्राप्त होती हुई जान पडती है। इसलिये रागद्वेषका पूर्ण अभाव होकर ज्ञानकी पूर्णता होनेको निज स्वभाव व पूर्ण सुख-शांती प्राप्त होनेका कारण मानलेना अनुभवके विरुद्ध न होगा।

बस, वस्तुके स्वभावकी प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्थाका प्राप्त होना है। वह अवस्था कभी फिर छूटती नहीं है। इसलिये जो अपने अविनाशी पदकी आकांक्षा करते हों उन्हे चाहिये कि, ज्ञानकी आराधना करैं। क्योंकि, ज्ञान जीवका मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तुकी चिरकाल-तक भावना या आराधना करनेसे उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

ज्ञान—भावनाका फलः—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

अर्थः—ज्ञानकी आराधना करनेका या ज्ञानमें मग्न होनेका असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हटकर सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानका लाभ हो। यह फल अविनश्वर है व आत्माको पवित्र तथा सुखी बनानेका कारण होनेसे स्तुत्य है। तपश्चरण करना, धर्माचरण करना, ज्ञानाभ्यासादि करना; यह सब इसलिये कि अणिमा महिमा-आदि ऋद्धि, सिद्धि व संपत्ति आदिकी प्राप्ति हो; ऐसा मानना मोहका माहात्म्य है। जिन जीवोंको मोह शांत होकर आत्म-

तत्त्वपरीक्षा प्राप्त नहीं हुई है वे इन पराधीन क्षणनश्वर दुःखमय संसार-विषयोंकी अभिलाषा करते हैं। घर-द्वार छोडकर तपस्वी बननेपर भी उनकी यह अभिलाषा नष्ट नहीं होपाती। इस मोहकी महिमाका क्या ठिकाना है? परंतु यह खूब समझलो कि चांहनेसे कुछ मिलता नहीं है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

अर्थः—शास्त्रोंका ज्ञान होनेसे वस्तुओंका सच्चा प्रकाश होता है और कर्मकलंक जल जाते हैं। इसलिये शास्त्र-ज्ञान एक प्रकारका अग्नि है। अग्निमें पडनेसे रत्न जैसे शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्रज्ञानमें मग्न होकर कर्म—कालिमाको जला डालते हैं और निर्मल होकर अथवा कर्मोंसे छूट कर प्रकाशमान होने लगते हैं। और जिनकी विषयवासना छूटी नहीं हैं ऐसे मोही जीव शास्त्रज्ञानमें प्रविष्ट होकर भी आधे जले हुए अङ्गारकी तरह चमकते तो हैं परंतु मलिन ही बने रहते हैं। अंतमें जब कि पूरे जल चुकते हैं तो भस्मकी तरह प्रकाशसे भी शून्य निस्सार हो जाते हैं। ठीक ही है, मोही जीव यदि ज्ञानका संपादन भी करैं तो भी अंतमें विषयासक्त होकर अज्ञानी बन जाते हैं। नीच कर्म करनेसे वे मलिन दीखने लगते हैं व विवेकशून्य होजानेसे अंतमें भस्मकी भांत निस्सार दीख पडते हैं। परंतु ज्ञानी उसी शास्त्रज्ञानके द्वारा पवित्राचरण रखता हुआ चमकता है व अंतमें शुद्ध बनजाता है।

निर्मोही साधुओंकी शुद्ध ज्ञानभावनाः—

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

अर्थः—अपने श्रेष्ठ ज्ञानको वारवार पसारकर यथास्थित सर्व तत्त्वोंको देखै और रागद्वेषको छोडकर उन तत्त्वोंका वार-वार जैसाका

---

१ पुण्णंपि जो समीहदि संसारो तेण ईहिदो होदि।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥ स्वामिकुमारः।

तैसा चिंतवन करै। ऐसा चिंतवन आत्मवेदी वीतरागके हाथसे ही होसकता है।

जो कि मोही हैं वे जिस पदार्थको देखने लगते हैं उसीमें उनकी प्रीति, नहीं तो अप्रीति अवश्य व तत्क्षण उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न हुए विना रहती नहीं। और वह उत्पन्न हुई कि जीवको कर्मबंधन तयार है। देखोः—

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥१७८॥

अर्थः—आवृत्ति, किसी वस्तुको अपनाना या अपनी तरफ खीचना। परिवृत्ति, किसी वस्तुको अहितकारी समझकर उसे दूर करना या उससे मन हटाना। अर्थात् राग व द्वेष। ये जबतक जीवसे छूटे नहीं हैं तबतक वस्तुओंके ग्रहण करनेसे भी कर्मबंध होता है व समय पाकर उदय प्राप्त होता है; और वस्तुओंके छोडनेसे भी कर्मोंका बंध व उदय होता है। क्योंकि, वस्तुओंका छोडना व ग्रहण करना इन दोनो ही अवस्थाओंमें राग-द्वेष जाज्वल्यमान बना हुआ है।

वेष्टन, बंध होना। उद्वेष्टन, फल देते हुए कर्मोंका छूटना। ये दोनो बातें तबतक अवश्य बनी हुई हैं जबतक कि रागद्वेष या इच्छापूर्वक बुरा भला मानकर वस्तुओंका छोडना व धरना होता रहेगा। बस, इसीका नाम संसारभ्रमण है। परंतु वस्तुओंके छोडने धरनेकी चिन्तामें मग्न रहना व अनात्मज्ञानी बनकर कर्मबंधनसे जकडना उदयकाल आनेपर और भी अधिक मोहित होकर उन्मत्तवत् दुःखी होना, इधर उधर जन्म धारण करते भटकना, इसीका नाम भवभ्रमण है। जबतक रागद्वेष हैं यह भ्रमण तबतक नहीं छूटेगा।

जैसे रईमें पडी हुई रस्सीको मनुष्य जबतक साधकर निकालना तो न चांहे; किंतु एक छोकको खींचता रहै, एकको ढीला करता रहै तो रईके चक्कर कभी बंद न होंगे। उसके खीचनेसे भी बल पडते हैं

और ढीला करनेसे भी बल पडते हैं। भ्रमण उसका तभी बंद होगा जब कि उसमेंसे रस्सीको विलकुल निकालकर अलग करदिया जाय। यही उपाय जीवके छूटनेका है। यही बात आगे कहते हैं। देखोः—

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥१७९॥

अर्थः—जीवमें यदि रागद्वेष बने हों तो कर्मबंधनके छूटते समय भी रागद्वेषके वशीभूत होनेके कारण भवभ्रमण तथा नवीन कर्म-बंधन होता ही रहेगा। अर्थात्, कर्मबंधनोंका छूटना ही केवल कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि, रागद्वेषके रहते हुए एक कर्मके छूटते ही दूसरा कर्मबंधन जकड जाता है। इसलिये वह छूटना किसी कामका नहीं है। इसलिये यदि वास्तविक कर्मबंधनसे छूटना हो तो ऐसी तरहसे उसे छोडना चाहिये जिससे कि भवभ्रमण व नवीन कर्मबंधन होना रुक जाय। उसका एकमात्र यही प्रकार है कि रागद्वेष हटाकर पूर्व कर्मोंकी निर्जरा की जाय। नहीं तो 'तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथ वा' इस पूर्वोक्तिके अनुसार सदा ही जीव दुःखी व कर्मपरतन्त्र रहेगा। क्योंः—

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१८०॥

अर्थः—जबतक रागद्वेष हैं तबतक जीवकी कुल प्रवृत्ति व निवृत्ति संसारके विषयोंमें ही रहेगी। और इसीलिये तबतक कर्मबंध होता ही रहेगा। किंतु रागद्वेष छूटजाकर शुद्ध हुए तत्त्वज्ञानद्वारा जो प्रवृत्ति व निवृत्ति होगी वह कुल आत्माको लक्ष्य बनाकर होगी। इसलिये उस प्रवृत्तिसे भी कर्मबंधन छूटेगा और निवृत्तिसे भी छूटेगा। प्रवृत्ति हुई तो आत्मचिंतवनमें या आत्माकी अद्भुत चेतनादि शक्तियोंकी महिमा विचार-नेमें होगी। यदि निवृत्ति हुई तो अध्यात्मभावनामें आड आनेवाले विषयोंसे होगी। पर ये दोनों ही शुद्ध विचारके बढानेवाली बातें हैं।

इसीलिये तत्त्वज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करते रहना चाहिये। इससे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी। इसीका समर्थनः—

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥१८१॥

अर्थः—जीवोंकी मानसिक भावना एक तो रागद्वेषपूर्वक होती है और एक वीतराग होकर तत्त्वज्ञानी बननेपर होती है। रागद्वेषमिश्रित भावना भी किसीकी तो स्वार्थपूर्ण, अन्यायभरित, पक्षपातपूर्ण होती है और किसीकी पक्षपातरहित न्यायानुकूल होती है। पहली अशुभ है, दूसरी शुभ है। वीतरागीकी जो भावना होती है वह तीसरी है व शुद्ध है—मुक्तिका कारण है।

अर्थात्,— गुणोंके साथ द्वेष, सन्मार्गके साथ द्वेष, सज्जनोंके साथ द्वेष, न्यायमार्गके साथ द्वेष; एवं दोषोंमें या नीच कर्मोंमें राग, दुर्जनोंके साथ राग, अन्यायमार्गमें चलनेकी इच्छा इत्यादि अशुभ कर्मोंके साथ राग व शुभ कर्मोंसे द्वेष होना, यह पापकर्मोंके बंधका कारण होता है। इससे उलटी प्रवृत्ति अर्थात्, गुण व गुणी जनोंमें तथा न्यायमार्ग, धर्मकार्य आदिमें प्रीति होना और दोष व दुष्ट जनोंसे तथा अन्यायमार्ग—अधर्ममार्गसे द्वेष रहना, यह शुभ कर्म है। इससे पुण्यकर्मका बंध होता है। परंतु जिसकी बुद्धिमें गुण व गुणी देखकर आनंद नहीं होता और दोष व दुष्ट जनोंको देखकर द्वेष नहीं होता ऐसी जो रागद्वेषरहित शुद्ध बुद्धि है वह मोक्षका कारण है। वह बुद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है वह संसारसे छुटकारा पाकर सदाकेलिये पवित्र व सुखी बन जाता है।

भावार्थ यह कि, रागद्वेष न तो भले कामोंमें ही अच्छा है और न बुरे कामोंमें। क्योंकि, कर्मबंधके कारण प्रत्येक रागद्वेष हैं ही। इसीलिये जिसे अपना परम कल्याण करना इष्ट है उसकी भावना रागद्वेष छोडकर केवल शुद्ध ज्ञानमें रहनी चाहिये।

रागद्वेषका नाश या उपशम कैसे हो?–

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधक्षुणा ॥ १८२ ॥

अर्थः—रागद्वेषकी उत्पत्ति मोह–कर्मसे होती है; अर्थात्, राग-द्वेषकी उत्पत्तिकेलिये मोहकर्म बीजके समान है। जिस प्रकार कि वृक्षके अंकुर व जडकी उत्पत्ति उसके बीजसे होती है। जैसे बीज अग्निसे जलसकता है, वैसे ही इस मोह–बीजके जलानेवाला अग्नि भी कोई होना चाहिये। मोह, अज्ञान व विपरीत ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है। इसलिये इसको जलाडालनेवाला अग्नि सम्यग्ज्ञान हो सकता है। जब कि मोह ही अनर्थकारी रागद्वेषका निदान कारण है तो उसे ज्ञाना-ग्निसे भस्म करदेना चाहिये। क्योंकि, रागद्वेष अनर्थकारी हैं, इसलिये उन्हें नष्ट करनेका तो विचार साधुओंका रहता ही है। और भी देखोः–

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति ॥ १८३ ॥

अर्थः—मोह ऐसा दुःखदायक है जैसा कि एक फोडा। अथवा फोडेसे भी अधिक। देखिये, फोडा जो बहुत दिनोंका हो जाता है वह अधिक पीडा देने लगता है। मोहकी तो कुछ मर्यादा ही नहीं है कि अमुक समय उत्पन्न हुआ था। मोह अनादिकालीन है। तो फिर इसकी विषमता व दुःखका क्या ठिकाना लग सकता है? इसी-लिये फोडाकी वेदना होते हुए भी जीवोंको सचेतता बनी रहती है परंतु इस मोहरूप फोडेने जीवोंकी सावधानीतक नष्ट करदी है। इतनी बडी वेदना इस मोहसे प्राप्त होरही है।

फोडे आदि रोगोंकी उत्पत्तिमें विरोधी ग्रह भी निमित्त हो जाया करते हैं। इसी प्रकार मोहकी उत्पत्तिमें परिग्रहकी आसक्तता कारण हो रही है। यदि परिग्रहोंमें आसक्ति न होती तो मोहकी उत्पत्ति व वृद्धि भी कभी नहीं होती। अज्ञान व रागद्वेषादिक उपजना सब मोहका कार्य है व मोह कारण है।

फोडा जो बहुत बढ जाता है वह गहरा घाव कर देता है। मोहकी गहराईका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। जो अनादि कालसे पैदा होकर सदा बढ रहा है उस मोहकी गहराईका क्या ठिकाना है?

मोह नरकादि गतियोंको प्राप्त करानेवाला है और फोडेसे पीव वगैरह प्राप्त होते हैं। पीडा देनेवाले तो दोनो हैं ही। यदि यह इतना दुःखदायक है तो यह कैसे ठीक हो?

मोहके ठीक होनेका उपाय यह है कि, परिग्रहोंसे वासना हटा-लो, अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन होजाओ। वस, इससे मोह धीरे धीरे निर्मूल हो जायगा। जबतक विषयवासना हटकर आत्मज्ञान नहीं होता तबतक मोहकी वृद्धि होती ही रहेगी। जिस प्रकार कि फोडेको सुखाना हो तो पीव वगैरह जो निकलता है उसे धो–धाकर हटाते रहना चाहिये और उत्तम लोनी आदि चीजोंकी बनी हुई मलम उस-पर लगाते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे फोडा भीतरसे साफ भी होता है व ऊपरसे भरकर चमडा पुरकर बराबर भी हो जाता है। ठीक, यही दशा मोहकी है। इसलिये मोहको भी आत्मानुभव के मलमसे साफ या नष्ट करदेना चाहिये।

अब यह देखना चाहिये कि मोह जहां उत्पन्न होता है वहांकी क्या अवस्था है? जिन चीजोंसे मोह किया जाता है वे चीजें यदि परिपा-कमें वास्तविक दुःखके साधक हों तो उनमें मोह करना वृथा है। देखोः—

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः॥१८४॥

अर्थः—सुहृद व बंधु-जन यदि सुखी बनानेवाले होते हैं और जो दुःख हैं वे यदि शत्रुओंसे होते हैं तो सुहृद भी मरनेपर दुःख देते हैं, इसलिये जगमें जीवका कोई सुहृद हो ही नहीं सकता है। जब कि सुहृ-दोंका मरण होता है तब प्राणी इष्टवियोग समझकर दुःखी अवश्य होते हैं। अहो भाइयो, तुम इतना विचार नहीं करते कि बंधुजन तुम्हें

जीते-जी तो आकुलता व प्रेमके बंधनमें फसाकर दुःखी करते हैं और मरते हुए इष्टवियोग मनवाकर दुःखी करते हैं। तो भी तुम उनके-लिये शोक ही करते बैठते हो! यह कहांकी बुद्धिमानी है? जो मरते मरते भी दुःख देनेसे बंद न पडे उसे सुहृद माननेकी क्या जरूरत है? उसमें, व एक हाड-वैरीमें अंतर क्या रहा? तुम यह विचार नहीं करते क्या? और भी देखोः—

अपरमरणे मत्त्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेपि न केनचित् ॥१८५॥

अर्थः—मरण तो अलंघ्य है। परंतु प्राणी पुत्र-कलत्रादिकोंके मरने पर उन्हें अपना मानता हुआ रोता-पीटता है। अपने मरणको भी पास आते जानकर विचार विचारकर खूब रोता है। यदि निर्भय होकर मरनेके समय सावधानी व धीरता धारण करै तो परलोक भी सुधरता है और साहसी होनेके कारण कीर्ति भी अतिशय बढती है। इसलिये कदाचित् किसी कारणवश यदि किसीका मरण हो तो बुद्धि-मान् जन उसका शोक क्यों करने लगा? शोक उसी मूर्खको होगा कि जो इस बातको समझता नहीं है। जो मरणमें निर्भय होते हैं उनके साहसकी लोग भी अति प्रशंसा करते हैं और राग-द्वेषका उद्रेक न बढनेसे परजन्म भी बिगडता नहीं है। परंतु ऐसी समझ मूर्खोंको कहांसे हो? यह समझ तो बुद्धिमानोंको ही होसकती है।

दुःख दूर होनेका उपायः-

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥१८६॥

अर्थः—मनुष्य जबतक परवस्तुओंमें रागद्वेषकी भावना रखता है तभीतक दुःखी है। जब कि यह भावना छूटी कि वास्तविक सुख उत्पन्न होता है। देखोः—

प्राणी किसी एक वस्तुको जब कि इष्ट समझ रहा है तो उसकी हानि होनेपर उसे शोक पैदा होता है। शोक हुआ कि दुःख होना ही चाहिये। इसी प्रकार उस इष्ट मानी हुई चीजके मिलनेपर प्रेम बढता है। वस, प्रेम बढा कि सुख प्रतीत होने लगता है। यह अवस्था अज्ञानियोंकी है। अरे, यदि शोकसे दुःख व प्रीति होनेसे सुख जान पडता है और वह सुख भी आकुलतापूर्ण होनेसे असली व अविच्छिन्न रह नहीं पाता तो किसीकी हानि होनेपर शोक करना व किसीका लाभ होते प्रीति करना, यह छोडदो। ऐसा करनेसे सदा सुख ही सुख रहेगा और वह सुख ऐसा होगा कि जिसका फिर विच्छेद ही न हो। जब कि विच्छेदके कारण ही नहीं रहेंगे तो विच्छेद क्यों होगा? पर यह विचार होगा किसको? उसीको, जो सच्चा बुद्धिमान् होगा। इस प्रकारसे यदि सर्व विषयोंके हानि–लाभमें राग–द्वेष करना छोडदिया जाय तो निरवच्छिन्न सुख अवश्य मिलसकता है। देखोः—

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्न्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥ १८७ ॥

अर्थः—पूरी निराकुलता होना असली सुख है। दुःख नाम आकुलताका है। आकुलताके कारण विषय हैं। वे यदि रहैं तो आकुलता बढती है, नहीं तो नहीं। इसीलिये संपूर्ण विषयोंको छोडकर विरक्त होकर बैठनेसे सदा सुख ही सुख प्राप्त होसकता है। और इसीलिये वह जीव इस जन्ममें भी सुखी रहसकता है व पर लोकमें भी सुखी ही रहेगा। किंतु जबतक विषयवासना छूटी नहीं है तबतक दुःख ही दुःख है। विषयासक्त जीव यहां तो आकुलतावश दुःखी रहते हैं और पर जन्ममें पापकर्म कमाकर ले जाते हैं, जिससे कि वे पापके उदयसे वहां भी सदा दुःखी ही बने रहते हैं। इसलिये कल्याणकी इच्छा है तो विषयोंसे उदास होकर रहो, तुम्हें सुख ही सुख मिलेंगे। और जबतक उदास नहीं हुए तबतक दुःख ही दुःख हैं।

जन्म-मरणकी तुलनाः—

मृत्योर्मृत्यवन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्त्ये पक्षपातिनः ॥ १८८ ॥

अर्थः—अरे भाई, तू मरनेको बुरा समझता है और जन्म होनेको अच्छा समझता है। पुत्रादिकोंके जन्मसे तुझे खुशी होती है। यदि मरण हो जाय तो तू रोता है, दुःखी होता है। स्वप्नमें भी तू कभी अपना व पुत्रादिकोंका मरना पसंद नहीं करता। परंतु यह तो विचार कर कि, मरने व जन्म लेनेमें अंतर क्या है? जन्मसे लेकर ही मरण समीप समीप आता जाता है। इसीलिये प्रत्येक समयमें भी मरण होना ही समझना चाहिये। तो फिर मरणसे डरता हुआ भी तू यदि जन्मको आनन्दका कारण समझता है वह क्यों? वह मरण पहला है व जन्मके वादका दूसरा है। तो फिर जन्म भी एक तरहका मरण ही तो हुआ न? **भावार्थः**—एक मृत्युसे निकलकर आगेकी मृत्युके फंदेमें पडना, यही जन्म लेनेका अर्थ हुआ न? और जब कि ऐसा है तो जन्म होनेमें खुशी होना मानो आगे आनेवाले मरणके साथ प्रेम करना है। अब देख, कि तेरी भूलका क्या ठिकाना है? दोनोंका मतलब मरण ही है। परंतु एक मरणसे तू, तो भी द्वेष करता है व दूसरे मरणसे प्रेम करता है। इस मिथ्या वासनाको तू छोड। यदि ऐसी मिथ्या वासनाऐं तेरी छूटी नहीं तो ज्ञान, संयम आदि धारण करना सव व्यर्थ है। देखः—

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

---

१ पुण्णंपि जो समीहदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
दूरं तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥ (स्वामिकु० प्रेक्षा).

अर्थः—तेने संपूर्ण तो शास्त्रका अभ्यास किया और बहुत समयतक बडे बडे गहन तप किये। परंतु तू यदि इस शास्त्रज्ञानका व घोर तपोंका फल ऐसा चांहने लगा हो कि इससे अनेक विषय-सुखोंकी सामग्री प्राप्त हो तथा लोगोंमें मेरा आदर बढ जाय; तो कहना चाहिये कि तेरा हृदय तत्त्वज्ञानसे वंचित ही रहा। तू उस तपरूप सुंदर वृक्षके फल न चांह कर, फक्त फूलोंकी कच्ची कलियोंको तोर डालना चांहता है। अरे मूर्ख, ऐसा करनेसे तुझे इसके सुंदर मीठे असली फल कैसे मिल सकेंगे? इसका असली फल मोक्ष है।

ज्ञान व तपश्चरणका फलः—

तथा श्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपङ्क्तिं विना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥१९०॥

अर्थः—लोकव्यवहार व वंचना छोड दे। लोक तो अज्ञानी हैं और तू विवेकी कहलाता है। यदि अब भी तुझसे वंचना व विषयाभिलाषा छूटी नहीं तो तेरे विवेक व तपको धिक्कार हो। अब तो तू ऐसी तरह शास्त्रज्ञान उत्पन्न कर और शरीरको भी तपश्चरणद्वारा ऐसा कृष कर कि, जिससे कषाय कृष होसकें व विषयोंकी तरफसे इंद्रियोंकी इच्छा हट जासके। कषाय-विषय बडे ही दुर्जेय हैं। इनका जीतना सहज नहीं है। इनको वही जीत सकता है कि जो अपना सारा समय शास्त्राध्ययनमें विताता हो और जो तपश्चरण करता हो व शास्त्रमर्यादाका विचार करता हो। यदि कोई मिथ्या, अप्रसिद्ध तपोंको करने भी लगा हो और अत्यंत भी करै तो भी उससे अभिमान बढ जाता है, जिससे कि उलटा पाप ही संचित हो। यदि ऐसा हुआ तो तप व श्रुत, दोनो व्यर्थ हैं। साधुओंने तप व शास्त्रज्ञानका सच्चा फल यही बताया है कि विषयोंसे वैराग्य हो और क्षोभ या उद्वेग घट जाय।

कषाय जीतनेका उपायः—

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

अर्थः—घी दूध वगैरह चिकनाईकी चीजें हैं; क्योंकि इनसे जठराग्नि मंद होकर रोग बढता ही जाता है, कम नहीं होता । जठराग्नि प्रदीप्त हो तो रसादि धातुओंकी उत्पत्ति ठीक ठीक होनेसे रोग दूर होसकता है । इसीलिये थोडासा भी चिकनाईकी चीजोंका खाना रोगीकेलिये निषिद्ध है । इसी प्रकार संसारके रोगसे छूटनेवालेकेलिये विषयोंका स्नेह थोडासा भी महा अनर्थकारी है । थोडासा भी विषयोंमें मोह उत्पन्न हुआ कि ज्ञान—जठराग्नि मंद पडता है, जिससे कि कर्मबंधनरूप त्रिदोष उत्पन्न होकर संसार—रोग बढता ही चला जाता है । यदि मोह ऐसा अनर्थकारी है तो तू कुटुंबी मनुष्योंको व शेष विषयोंको देखकर उनमें बुद्धिको क्यों फसाता है ? क्यों उनमें रागद्वेष करता है ?

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोप्ययम् ।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः[1] ॥१९२॥

अर्थः—संसारके प्राणी अज्ञानी हैं। अहितकारी विषयोंसे उनकी प्रीति नहीं है । विषय—भोगोंमें ही वे फस रहे हैं । परंतु वे भी जिन चीजोंको अहितकारी समझलेते हैं उन चीजोंको तत्काल छोड देते हैं । देखो, स्त्री अत्यंत प्यारी वस्तु है । परंतु यदि एक वार भी मनुष्यको यह सुनाई पडजाय कि यह मेरी स्त्री कुकर्म करती है, तो वह मनुष्य उस स्त्रीको तत्क्षण छोडनेकेलिये तत्पर हो जाता है । पर तू तो ज्ञानी होकर

---

१ 'भवान्' इति पदं कर्तृ इति टीकायामुक्तम् ।

अपने सच्चे हितमें लग चुका है और विषयोंकी बुराई साक्षात् अनुभव कर चुका है। एक वार नहीं, किंतु वार वार व भव-भवमें। फिर भी तू उनसे विरक्त क्यों नहीं होता? क्यों उन्हींमें आसक्ति बढा रहा है? क्या किसीको यह मालूम पडजानेपर कि मेरे इस भोजनमें विष मिल-गया है, तो फिर वह उसको खायगा? अरे विषय क्या हैं! विषसे भी बढकर हैं। तो फिर विषयसेवनके फंदेमें तू क्यों फसना चांहता है? तो?

आत्मन्यात्मविलोपनात्मचरितैरासीदुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्थं परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः,
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना॥१९३॥

अर्थः—अरे जीव, तू अपना नाश करनेवाले निंद्य आत्मचरित्रोंको धारण करके दुष्ट या नीच जन बन रहा है! तुझे अपने स्वरूपका कुछ पता ही नहीं रहा कि मैं कौन और कैसा हूं! अब तू अपने कर्म ऐसे पवित्र कर कि जिनसे आत्मा सुखी हो और तुझे अपनी पहिचान हो, जिससे कि बहिरात्मासे अंतर्यामी आत्मा बन जाय। जब कि तू ऐसा पवित्र हो जायगा तो तेरा अनंत-सुखकारी केवल ज्ञान-गुण अपने आप प्रगट होगा और उस समय सहजमें ही तू आत्माकी परम पवित्र दशाको प्राप्त हो जायगा, जिसे कि परमात्मपद कहते हैं। उस समय अवश्य आत्मीय परम सुख प्रगट होगा, जो कि किसीके पराधीन नहीं है किंतु, अपने ही अधीन जिसकी उत्पत्ति है। उसी समय तू असली शुद्ध आत्माका अनुभव करता हुआ अपने आपेमें मग्न होकर अत्यंत सुख तथा पवित्र ज्ञानके साथ प्रकाशित होता हुआ नजर पडेगा। परंतु यह सब आनंद तबतक मिल नहीं सकता, जबतक कि तू अपने शरीरमें प्रीति कर रहा है। शरीर छूट जानेपर ही ऐसा परम पवित्र सिद्धस्वरूप प्रगट होता है। शरीर उस दशाको कभी प्राप्त नहीं होने देता। और शरीरसे जबतक प्रीति लग रही है तबतक शरीर कैसे छूट सकैगा? अत एव,

---

१ आत्मने हितमात्मनीनम्। २ आत्मना इत्थं प्राप्याम्।

समय मत चूको । देखोः—

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित,—
स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः ।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं,
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९४ ॥

अर्थः—इसी शरीरने पहिले चिरकालपर्यंत तुझे इसी संसारमें सेवकके तुल्य बनाकर भ्रमाया है । क्या तुझे यह बात याद नहीं आती है? तो? जब कि इसने तुझे इतना कष्ट दिया है तो तू भी इससे आज पूरा पूरा बदला निकालले । आज यह तेरे हाथमें आचुका है । जबतक इसका नाश न हो तबतक तू इसे खूब क्षीण कर । अथवा तू इसे इस तरह कष्ट दे कि जिससे नष्ट न होकर यह कृष होता रहै किंतु अपनेसे बलवान् न होसकै । यदि यह बलवान् हुआ तो फिर इंद्रिय तथा मनके द्वारा तुझै विषयकीचमें फसादेगा; जिससे कि तुझै चिरकालतक इसके पराधीन रहना पडेगा ।

किस उपायसे इसे वश व कृष किया जाय? अनशन=अन्नपानका सर्वथा त्याग । सामिभक्त=भूखसे आधा भोजन । अर्थात्, ऊनोदर अथवा अल्पाहार । रसवर्जन=खट्टे मीठे आदि खानेके विविध रसोंमेंसे एक दो रखकर शेष रसोंका त्याग, अथवा सब रसोंको त्यागकर नीरस भोजन करना । इनके सिवा कायक्लेशादि और भी अनेक ऐसे तपके भेद हैं कि जिनसे शरीर कृष व वश बना रहता है तथा आत्मभावना करनेमें सुलभता तथा सहायता प्राप्त होती है । कायक्लेश अर्थात् अधिक गर्मी व शर्दीमें जाकर निवास करना, किसी विकट आसनसे चिरकालतक ठहरना । ऐसा करनेसे शरीरको आराम न मिलकर क्लेश होता है जिससे कि जीव उस शरीरके आराममें मग्न होकर आपेको भूल नहीं पाता किंतु सदा सचेत रहता है । इत्यादि अनेक सुदृढ तपोंके द्वारा दबतक तुम इस शरीरको खूब ही क्षीण करते जाओ जबतक कि इसका

अंतकाल आकर प्राप्त नहीं हुआ। तुम पक्का विश्वास करो कि यह शरीर ठीक एक दुष्ट शत्रुके समान है। जैसे शत्रु हाथसे निकल जानेपर फिर काबू नहीं देता वैसे ही यह शरीर भी आज तो तुह्मारे वश है, ज्ञानाभ्यासरूप यंत्र तुझे शरीरसे अधिक बलवान् बनाये हुए है। परंतु यह एक वार तुह्मारे पंजेसे छूटा कि तुह्मारेमें फिर यह ज्ञानाभ्यासादिका बल इतना न रहने देगा जिससे कि फिर तुम इसे वश कर सको। इसलिये अभी तुम इसे पूरा निर्बल बनाओ।

शरीर ही सब दुःखोंकी जड है। देखोः—

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान१—
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु,—
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥ १९९ ॥

अर्थः—सबसे प्रथम, जब कि शरीर उत्पन्न होजाता है तब उसमें दुष्ट इन्द्रियां प्रगट होती हैं। वे इन्द्रियां ही विषयोंकी तरफ दौडती हैं। और जब कि वे विषयोंकी तरफ दौडती हैं तब जीवोंको अनेक प्रकारका अपमान सहना पडता है; क्लेश उठाने पडते हैं; कभी कभी भय भी पैदा होता है। आत्मज्ञानका विस्मरण होनेसे जीव अज्ञानी बन जाता है जिससे कि अनेक कुकर्म करके पापका संचय कर दुर्गतियोंका पात्र बनता है। अब देखिये कि इन सब आपत्ति-विपत्तियोंका मूल कारण क्या रहा? मूल कारण हुआ शरीर। न शरीर होता, न इन्द्रियां पैदा होतीं। इन्द्रियां ही न होतीं तो विषयोंकी तरफ आत्माको झुकाता कौन? और वह आत्मा न तो विषयोंमें फसता, न अपमान, क्लेश, भय, पाप संचित होते। दुर्गतियोंमें भी तो फिर क्यों जाता? इसलिये सारी आपत्तियोंका मूल कारण शरीर ही है। भावार्थ, शरीरसे प्रेम छूट जाय तो एक दिन शरीर नष्ट हो जाय। शरीर नष्ट हुआ कि सर्व दुःख दूर हुए। अत एव,

१ दूसरे तीसरे चरणोंका समास नियमविरुद्धसा है परंतु यहां होरहा है।

शरीर व विषयोंसे प्रेम करना पूरा अज्ञान है। देखोः–

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुंम् ॥१९६

अर्थः— शरीरका रहना व विषयोंसे प्रेम होना ये दो ही बातें दुःखदायक हैं। शरीरको पुष्ट करना व विषय–सेवन करना मानो विष खाकर जीनेकी आशा करना है। परंतु अज्ञानी जनोंकेलिये कोई भी काम कठिन नहीं है। वे जो न करें वही आश्चर्य समझना चाहिये। देखो, शरीरका पोषण व विषयोंका सेवन ये दोनो काम अहितकारी होनेपर भी इन दोनो कामोंको अज्ञानी जन करते ही हैं।

भावार्थः—समझदार उसीको मानना चाहिये कि जो अपने शरीरके व विषयसेवनके वशीभूत न हो। जो इनके वश है उसे मानना चाहिये कि विष खाकर जीनेकी इच्छा रखनेवालेके समान वह नितान्त मूर्ख है। परंतु यह कलिकालकी महिमा है कि तपस्वीतक शरीरके नाश होनेसे डरते हैं। देखोः—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विषन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थः—मृग सभी जानवरोंमें कायर है। दिनमें वह चाहें जहां इधर उधर जंगलोंमें फिरता है, क्लेश भी उठाता है। परंतु रातका समय हुआ कि वनचर जंतुओंसे डरकर किसी गांवके आस–पास आजाता है। वस, यही दशा कालियुगके तपस्वियोंकी है। वे दिनमें चाहें जंगलोंमें रहैं व कायक्लेशोंको भी सहलैं, परंतु रात हुई कि डरकर गांवोंके समीप आकर वास करते हैं। पशुओंमें जो कायर हैं वे ही डरते हैं व छिपते हैं। सिंहादिक सदा निर्भय रहते हैं। परंतु तपस्वी तो निर्भय मनुष्योंमें अग्रेसर हैं। परंतु रे कलियुग! उनको भी विनश्वर व दुःखदायक शरीरसे इतना प्रेम !

१ 'जीवितम्' ऐसा भी पाठ है।

कलियुगके तपस्वियोंकी और भी दुर्दशा देखोः—

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपदः ॥ १९८ ॥

अर्थः—आज तो वैराग्यपूर्वक तप धारण किया हो और सवेरा होनेतक जिनका वैराग्य–धन स्त्रीकटाक्षरूप चोरोंने लूट लिया हो उन तपस्वियोंके तपसे तो गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है। जिनका तप व वैराग्य इतना शिथिल हो कि दिन दो दिन तक भी पूरा टिक नहीं सकता हो उनके हाथसे संसारका विच्छेद होना असंभव है। ऐसा तप केवल संसारवृद्धिका ही उलटा कारण होता है। इसीलिये उस मलिन तपसे निर्मल गृहधर्म श्रेष्ठ मानना चाहिये।

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयन् त्यक्तलज्जाभिमानः,
संप्राप्तोस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोसि भूयः,
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९॥

अर्थः—अरे तपस्वी, तेरा मुख्य प्रयोजन आत्मीय कल्याण करना है। परंतु शरीरके होनेसे वह कल्याण नष्ट होगया तो भी तू कुछ गिनता नहीं है; उलटा लज्जा व अपमानको छोडकर स्त्रीकी खोजमें लगा। वह स्त्री यदि तुझे मिली तो भी सैकडों अपमान दुःख सहने पडे होंगे। और फिर भी वह स्त्री एक पैर भी तेरा साथ नहीं

---

१ '**भावि जन्म यत्**' यह भी पाठ है। तब 'गार्हस्थ्य' शब्दका विशेषण होगा।

२ **गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।**
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ श्रीसमन्तभद्रः॥

यहांपर एक नीति याद आती है। वह यह है किः—

वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद्विभवादिह।
कृषताभिमता देहे पीनता न तु शोफतः॥

अर्थात्—अन्याय करके धन इकट्ठा करनेकी अपेक्षा दरिद्री रहना ठीक है। देखो, सूजनसे शरीर स्थूल होनेकी अपेक्षा कृष रहना ही ठीक है।

देगी। तो भी तू उससे मोहित ही होरहा है। तेरी यह सब दुर्दशा क्यों हुई, यह तुझे मालूम है? केवल शरीरके रहनेसे। इसीलिये यदि तू बुद्धिमान् है तो अब आगेसे इस शरीरके साथ प्रेह मत करना।

भावार्थः—यदि तेने शरीरसे प्रेम करना छोड दिया तो प्रेम-मूलक बद्ध होनेवाले पापकर्म धीरे धीरे क्षीण हो जानेसे शरीर निर्मूल नष्ट हो जायगा। और यदि शरीर ही नहीं रहा तो दुःख किसको व किस मार्गसे मिलेंगे?

जबतक जीव अज्ञानी है तबतक शरीर व स्त्रीपुत्रादिकोंमें उसका प्रेम अवश्य रहेगा। वह समझता है कि शरीर ही मेरा आत्मा होरहा है। इसीलिये वह शरीरकी साल-सँभालमें अपना सारा जन्म गमाता है। परंतु आचार्य कहते हैं कि रे भाई, शरीर जड, तू चेतन। तेरा उसके साथ मेल क्या है? देखः—

न कोप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजासि तेषां गतमति-
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥ २०० ॥

संस्कृतटीकाः—कोपि गुणी द्रव्यं गुणवता अपरद्रव्येण, अन्योन्यं समवायं तन्मयत्वं, न व्रजति। द्रव्यस्वभावोयम्। तर्ह्यमूर्त आत्मा रूपिभिः शरीरादिभिः अमा सह सम्बन्धं कथमुपगतवान्? तदुत्तरमाह, केनापि—अनादिबद्धकर्मरूपकारणवशात्त्वं शरीरादिभिः सह बन्धं समुपगतवान्। अथवा पूर्वतः कर्मसद्भावात्तेनैव सह शरीरादिकमाश्रित्य आत्मसमीपे तिष्ठति। न तु त्वया सहैकत्वं गतम्। शरीराणि कर्माणि चेत्युभयमेव तु त्वत्तो भिन्नम्। अत एव यान् त्वमुपव्रजासि एकत्वं यासि ते शरीरादिपुद्गलाः ते तव रूपं न भवितुमर्हति। तथापि त्वं तेषां मध्ये गतमतिः—आसक्तमना जातः। ततः कारणात् त्वमत्र बहुदुःखसमाकीर्णे भववने तद्द्वारा सदा छेद्यो भेद्यश्च भवसि भवन्वर्तसे।

अर्थः—कोई भी पदार्थ दूसरे किसी भी पदार्थके साथ कभी तन्मय नहीं होता। प्रत्येक वस्तु शाश्वत अपनी निरानिराली सत्ताको धारण करती है। इस नियमसे जब कि मूर्तीक मूर्तीक भी परस्परमें तन्मय नहीं होसकते तो, तू तो अमूर्तीक है व शरीरादि मूर्तीक हैं; इसलिये तुम दोनोंकी अवस्था एक कैसे होसकेगी? कभी नहीं। तो भी जो शरीरके साथ तेरी परतन्त्रतासी दीखपडती है उसका कोई खास सवव होना चाहिये। वह सवव केवल कर्म है। वह कर्म अनादिसे जुडा हुआ चला आरहा है। उसीसे तेरे साथ शरीरका बंधन हुआ दीख रहा है। इसीलिये वे शरीरादि पुद्गल तेरा रूप नहीं है। तो भी तू जिन उन शरीरादिकोंके साथ अपनेको तन्मय हुआ मान रहा है व उनमें तेरा अत्यंत प्रेम है। इसी अज्ञानके कारण यह संसारवन तेरेलिये अनेक दुःखोंका दाता होरहा है; तू इसमें अनेक प्रकार छेदन भेदनके दुःख भोगता आरहा है। तू यदि शरीरसंबंधी आत्मीयभावना व प्रेम करना छोड दे तो तेरा सारा संकट कट जाय।

परंतु अज्ञानियोंका प्रेम शरीरसे छूटता नहीं। देखोः—

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥ २०१ ॥

अर्थः—जन्म मरण होना ये जीवोंके माता–पिता हैं। आधिव्याधियां सहोदर भाई हैं। समीपमें ठहरा हुआ बुढापा, यह इस जीवका मित्र समझना चाहिये। भावार्थ, शरीर धारण करनेवाले जीवके साथ माता, पिता, भाई, मित्रकी तरह जन्म, मरण, आधिव्याधी तथा जरा ये दुःख सदा लगे ही रहते हैं। ऐसे दुःखपूर्ण शरीरमें क्या आस्था होनी चाहिये? कुछ नहीं। परंतु अज्ञानी प्राणी तो भी इस शरीरमें ममत्व व सुखकी आशा लगाये ही रहता है। अरे भाई, यह शरीर क्षणभंगुर है व आधिव्याधी तथा बुढापेके दुःखोंसे परिपूर्ण है। और तेरा निजात्मा अजर, अमर, अव्याबाध, व शाश्वत सुखका धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीरसे प्रेम क्यों करता है?

और भी शरीर व आत्मामें क्या अंतर है वह देखोः—

शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्तो,-
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,
किंवा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥ २०१ ॥

अर्थः—अरे भाई, तू स्वतः तो संपूर्ण चराचर विषयोंको जान सकता है, अमूर्तीक है, अत्यंत शुद्ध है। परंतु शरीरने तुझे अत्यंत अज्ञानी बना रक्खा है, जडके समान मूर्तीक सरीखा बना दिया है व बहुत ही मलिन करादिया है। ऐसा हुआ क्यों? यों, कि शरीर स्वयं चैतन्यशक्तिरहित है, मूर्तीक है व अशुचि है। यह शरीर तेरे ऊपर अधिकार प्राप्त कर चुका है। इसीलिये तो तुझे इसने अपनासा बनालिया है। यदि तू सावधान हो तो शरीरकी क्या शक्ति है, कि वह तेरे ऊपर अपना प्रभाव डाल सकै। तू यह भी मत समझ कि इस शरीरसे मैं जुदा हो ही नहीं सकता हूं। यह शरीर तुझसे वास्तवमें जुदा है। अपनी शक्तिसे जुदेको जुदा करदेना व अपना मूल सुखकर स्वभाव प्रगट करना कोई बडी बात नहीं है। परंतु तू शरीरसे जुदा जबतक नहीं होसकता है तबतक तेरी यही दुर्दशा बनी रहेगी। शरीरसे जिसका संबंध एक वार हो जाता है उसमेंसे ऐसी कोनसी चीज है कि जिसे इसने अपवित्र न बनाया हो? इस शरीरकी जितनी निंदा की जाय उतनी ही थोडी है। जो शरीर केसर कर्पूर आदि पवित्र व सुगंधित वस्तुओंको लगते ही अपवित्र व दुर्गंधयुक्त करदेता है उस शरीरको अनेक वार धिक्कार है। तब?

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिँस्तव सांप्रतम्।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं, तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥

अर्थः—अरे जीव, जिस प्रत्यक्ष शरीरके पराधीनताजन्य अपार दुःखोंसे तू अति दुःखी हो रहा है उस शरीरके विषयमें अब तुझे क्या

करना उचित है ? तुझै चाहिये कि शरीरको अपवित्र व दुःखदायक मानै। तभी तेरा ज्ञान सत्य ज्ञान कहावेगा। और इतना समझलेना भी वस न होगा। तब ? असली साहस तेरा तब समझना चाहिये कि तू इससे उपेक्षा करके किसी दिन सर्वथा इसे त्याग दे। तू वास्तविक सुखी व स्वाधीन तभी बनसकेगा।

यदि रोगादिके कारण मनमें क्षोभ हो तो क्या करना चाहिये ?

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेपि नदीजले ॥२०४॥

अर्थः—जो मुनि शरीरके वास्तविक क्षणिक व अपवित्र स्वभावको समझ चुका है तथा आत्मामें ज्ञान–शांती उत्पन्न कर चुका है उसे रोगादिक बढ जानेपर भी खेद नहीं होगा। अरे, जो नावमें बैठा हुआ है उसे नदीमें जल बढ आनेपर भी क्षोभ क्यों हो ?

भावार्थः—सच्चा साधु संसार–नदीसे पार होनेकेलिये ज्ञान-शांतीरूप नावमें बैठा हुआ, रोगादि–जल बढ जानेपर भी डरता नहीं है। कितना ही वह जल बढ आया हो परंतु मैं पार ही पहुचूंगा। उसे इस बातका विश्वास रहता है। हाँ, यदि ज्ञान–शांतिरूप नावको सुदृढ न रखकर उसमें संशयादि अथवा विषयाकुलता आदि छेद करदिये हों तो अवश्य वह डूबेगा। इसलिये मात्र उसे ये छेद पडनेसे सावधान रहना चाहिये।

तो फिर रोग बढनेपर क्या करै ?

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा,
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वन्हिमपोह्य गेही,
निर्हाय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०५ ॥

अर्थः—रोग उत्पन्न होनेपर यदि उसका उपाय होसकता हो तो उपाय करै व शांतिके साथ अपने शरीरमें स्थिरता रक्खै। यदि

उपाय होना असंभव दीखपडा हो तो शरीरसे निर्ममत्व होकर शांतिपूर्वक शरीर त्याग दे। इन दो बातोंके अतिरिक्त तीसरा तो कोई मार्ग है ही नहीं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो सुसाध्य व उचित हो वही करना चाहिये। उद्वेग करनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे भाई, किसीके घरमें यदि आग लगगई हो तो वह क्या करै? जहांतक होसकै वहांतक तो आग बुझानेका प्रयत्न करै और घरमें ही बना रहै। वहांसे निकलनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि आग बुझना असाध्य दीखै तो चाहिये कि बुद्धिमान् मनुष्य घर छोडकर अलग हो जाय। इसमें है ही क्या? विचार व खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है। खेद माननेपर भी होगा वही कि जो होना है। तो फिर खेद करके आत्माको आगेकेलिये दुःखी करना ठीक नहीं है। काम जो करना है वही करो, परंतु शांततासे करो, जिससे कि ममत्ववश होनेवाले आजतकके से दुःख आगे प्राप्त न हों।

शरीररक्षामें प्रेम होना अज्ञान है। देखोः—

शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥ २०६ ॥

अर्थः—अज्ञानी मनुष्य शिरके बोझसे दुःखी होकर यदि उसे किसी प्रकार कंधेपर लेआया हो तो अपनेको कृतकृत्य व सुखी समझने लगता है। परंतु यह किस कामका सुख? वह दुःखदायक बोझा चाहें शिरपरसे हट गया हो परंतु शरीरसे तो अलग नहीं हो पाया है? इसलिये वेदना तो अब भी होगी ही। हाँ, शिरपर रहनेसे यदि वेदना तीव्र होती थी तो अब थोडी कम होगी। इसलिये जिसे बोझेसे पूरा छुटकारा पाना इष्ट है उसे चाहिये कि वह बोझेको उतार कर नीचे पटकनेका प्रयत्न करै। जो शिरपरसे कंधेतक लेआनेमें ही प्रसन्न है वह मूर्ख है।

भावार्थः—इसी प्रकार रोग होनेपर जो उसे दूर करदेना ही अपना चरमसीमाका कर्तव्य समझते हैं वे अज्ञानी हैं। असली कर्तव्य यह होना चाहिये कि जिसके रहनेसे रोग उत्पन्न होनेकी शंका कायम है उसका निर्मूल नाश करैं। रोग होते हैं शरीरके रहनेसे। वस, शरीरके नाश करनेमें लक्ष्य रखना ही बुद्धिमानी है। रोग सुगमतासे दूर हुआ तो ठीक, नहीं तो शरीर छूटते भी समता धारण करनी चाहिये। देखो:—

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत् कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥ २०७ ॥

अर्थः—उत्पन्न हुए रोगोंका जबतक उपाय होना शक्य हो तबतक करो। यदि उपाय करनेपर भी रोग दूर न हों तो शांतता रखना ही प्रतीकार समझो। क्योंकि, उद्वेग न करनेसे एक दिन शरीरका बीज ही नष्ट हो जायगा जिससे कि सारे रोग सदाकेलिये हट सकते हैं। तुम यह विचार कभी मत करो कि रोग होनेपर उसे हम मान मर्यादा न रखकर जैसे बनै वैसे दूर करनेमें लगैं। यदि तुह्मारा संयम मलिन होगया तो रोग दूर हुआ तो भी व्यर्थ है। क्योंकि, शरीर जहांतक है वहांतक दुःख हैं ही। इसलिये शरीर ही तोडनेका मुख्य यत्न करो। देखो, नीचे क्या कहते हैं?—

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥ २०८ ॥

अर्थः—जिसके स्वीकार करनेसे जीवको संसारी बनना पडता है और जिसे छोड देनेसे जीव संसारके दुःखोंसे मुक्त होसकता है, वह एक मात्र मुख्य शरीर ही है। तो फिर उस शरीरको ही ऐसी तरहसे छोडना चाहिये कि फिर उसका अपनेको संबंध न हो पावै। वाकी छोटी छोटी बातोंकी तरफ ध्यान देनेसे क्या लाभ है?

भावार्थः—गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, धर्म, परीषहजय इत्यादि मोक्षकारणोंका व उनके प्रकारोंका विचार करते बैठनेसे केवल एक शरीरके नाश करनेको मुख्य समझकर यथासंभव उसीके नाश करनेमें लगना असली कर्तव्य है। दोनो बातोंका भाव तो एक ही है परंतु ध्यान देने योग्य दश बातें न कहकर मुख्य एक ही बात बता देनेसे ध्यान या उपायमें लगनेवालेको सुगमता पडती है। और वास्तविक है भी यही बात। यदि शरीर ही न हो तो आत्माको परतंत्र बनाये रखनेको दूसरा कौन समर्थ है?

अथवा, तत्कालकेलिये केवल जिस तिस तरह रोग दूर करके सुखी बननेकी इच्छा होना वह क्षुद्र या संकुचित भावना है। और सदाकेलिये सुखी होनेकी इच्छासे उपाय करना वह विशाल व वास्तविक भावना है। सदाकेलिये सुख तभी होगा जब कि शरीर न रहै। इसीलिये शेष क्षुद्र विचार हटाकर शाश्वत सुखके कारणमें लगो। देखोः—

शरीरकी कृतघ्नताः—

नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥२०९॥

अर्थः—शरीरका वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो अत्यंत ही निंद्य है। हाड, मांस, रुधिर, मल, मूत्र इत्यादि अति अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है। शरीरका कोई भाग भी इन अपवित्र वस्तुओंके सिवा खाली नहीं है। सर्वतः तन्मय है। शरीर सरीखी वस्तुको कोई दूरसे देखना भी पसंद न करै इतना यह शरीर निकृष्ट है। परंतु तो भी आत्माने इसपर इतना बडा उपकार किया है कि इसे अपना साथ देकर लोकमें आदर योग्य बना रक्खा है। ठीक ही है, आत्माके संबंधसे ही इसकी पूछ है। नहीं तो इसे कोई छूता व देखता तक नहीं। परंतु यह शरीर इतना कृतघ्न है कि आजतक सघन संबंध रहते हुए भी इसने उस आत्माकी चांडालादि बनाकर स्पर्शके योग्य भी

नहीं रखा। इसने सदा भलाईके बदलेमें बुराई की। अपने परम उपकारीके साथ इतनी सहानुभूति भी न दिखाना, उससे इतना विमुख रहना, अत्यंत नीचता है। इसकी कृतघ्नताको धिक्कार हो।

भावार्थः—जब कि यह इतना कृतघ्न है तो इससे कभी लाभ न होकर अपनेको सदा हानि ही होना संभव है। इसीलिये इसे त्याग देना व इससे उपेक्षा रखना ही ठीक है।

भला, इसे त्यागै तो किस तरह?

रसादिराद्यो भागः स्याज् ज्ञानावृत्त्यादिरऽन्वितः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः॥ २१०॥
भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात् पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित्॥२११॥

अर्थः—यदि आत्माको शरीरसे जुदा करना है तो प्रथम शरीरांश व आत्मांशोंको पहिचानकर जुदा समझलो। ऐसा करनेसे आत्माको शरीरसे जुदा करलेनेमें कोई कठिनाई न पडेगी। अच्छा तो यों ही करिये। देखोः—

हाड, मांस वगैरह चीजोंका जो अपने साथ यह पिंड संलग्न हो रहा है, पहिला तो यह एक सर्वप्रसिद्ध विभाग है, जो कि सुगमतासे शरीरके नामसे जुदा समझा जासकता है। इसके वाद इसके सिवा दूसरा एक भाग संसारबद्ध जीवपर्यायका वह है कि जो शरीरका मूल कारण अत्यंत परोक्ष परंतु सबसे अधिक या वास्तवमें आत्माको रोककर उसे मलिन व दुःखी बना रहा है। उसको कर्म कहते हैं। उसके ज्ञानावरणादि अनेक उत्तर भेद हैं। इस जीवपर्यायमें तीसरे विभागकी कल्पना करैं तो वह स्वयं आप है। अर्थात्, जो ज्ञानादि गुणोंके द्वारा जुदा समझनेमें आता है वह ज्ञानादि गुणोंका पिंड आत्मा तीसरा विभाग है। इस प्रकार एक तो स्वयं आप और दूसरा प्रत्यक्षगोचर शरीर भाग और तीसरा कर्म या लिंगशरीर अथवा सर्व संसा-

रका बीजभूत कारणशरीर। ऐसे इस संसारापन्न जीवमें तीन प्रकारोंकी कल्पना बैठती है। इन्हीं तीन वस्तुओंके एकीभूत पिंडको संसारी जीव या बद्ध आत्मा कहते हैं। ये तीनो भाग सदासे मिलकर एकीभूत होरहे हैं। जबतक संसार है तबतक इन तीनोंका बंध नित्य लगा ही हुआ है।

जो केवल बहिरात्मा पूरे अज्ञानी हैं वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं। जो कुछ आगे चलकर कार्यकारणका विचार करने लगते हैं वे आत्माको संकल्प मात्र मानकर उसके कारण कर्मोंका विचार करनेमें लगते हैं। वे भी वास्तवमें अज्ञानी ही हैं; क्योंकि, कर्मोंके स्वरूपको उन्होंने चाहें कुछ समझलिया हो परंतु आत्माको संकल्प मात्रसे या शास्त्राज्ञामात्रसे मानलिया है: वास्तव आत्माको स्वयं समझ नहीं पाये हैं। उन्हींको कहीं कहींपर द्रव्यलिंगीके नामसे पुकारते हैं। यहांतकके दोनो प्रकारके जीव अज्ञानी ही हैं, क्योंकि, उन्होंने वास्तव तत्त्वको नहीं पाया है। हाँ, सच्चा तत्त्वज्ञानी वह है कि जिसने शरीर व कर्म इन दोनो भागोंसे ज्ञानादि-गुणयुक्त अमूर्त आत्माको जुदा करनेका स्वरूप समझ लिया है। और शरीरका नाश करके अपनेको संसारसे मुक्त कर सकता है। जो इतना ज्ञानी बन चुका है वह किसी प्रकारका कष्ट न उठाकर सहज ही आत्माको छुटा सकता है। देखोः—

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥ २१२ ॥

अर्थः—तुम यदि क्लेशोंसे डरते हो तो भलें ही चिरकालपर्यंत घोर तपोंको मत करो। परंतु कषाय जीतनेमें तो कोई शारीरिक क्लेश नहीं है? अपना मन वश किया कि कषाय वश हुए। इसलिये कषाय-शत्रुओंको तुम अवश्य जीतो। यदि कषाय भी तुमसे जीते न गये तो यह तुम्हारी पूरी मूर्खता है।

भावार्थः—बाह्य तप करनेसे बहुतसे मनुष्य डरते हैं। वे समझते हैं कि बाह्य तप करना मानो भूख प्यास आदि अनेक दुःखोंको सहना है। परंतु ऐसा विचार उन लोगोंका होता है कि जो हाल ही में दीक्षित या धर्मकी तरफ सन्मुख हुए हों, किंतु इस तपश्चर्यामें प्रवेश करके वास्तविक आनंद नहीं उठा चुके हों। वास्तविक देखा जाय तो चिरपरिचित आत्मज्ञानी साधुओंको इस तपमें कभी खेद प्रतीत नहीं होता। शरीरका वैभव तपसे घटेगा परंतु आत्मीय सुखमें क्या बाधा आवेगी? कुछ नहीं। प्रत्युत विषयोंसे मन उपरत होनेके कारण आत्मानंद तो बढता जायगा। इसीलिये तपमें खेद माननेवाले वे ही होसकते हैं कि जो धर्ममें नवदीक्षित होंगे। उन्हींको आचार्य प्रकारांतरसे धर्ममें स्थिर करनेका प्रयत्न इस श्लोकमें दिखारहे हैं। तपश्चरण क्या व कषाय जीतना क्या? वास्तविक एक ही बात है।

बहुतसे लोग कषायोंके जीतनेकी तरफ लक्ष्य न रखकर केवल कायक्लेशादि तप करनेमें लगनेको ही धर्म समझते हैं। उनको समझाना है कि भाई, कषायोंको अवश्य जीतो। यह भी इस श्लोकका तात्पर्य है।

कषाय ही सर्वथा जीवका अपराधी है। देखोः—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगणोयं तन्न तावद्विशङ्कं,
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व॥ २१३॥

अर्थः—अरे जीव, तेरा हृदयसरोवर अत्यंत निर्मल है। तो भी उसके अत्यंत गहरे भागमें कषायरूप मगर जबतक रहरहे हैं तबतक उस सरोवरके पास पवित्र मोक्षके साधन ज्ञानादि गुण निःशंक

१ 'समदमयमशेषैः' ऐसा पाठ पं. टोडरमलजीनें माना है पर वह ठीक नहीं है। संस्कृत टीका भी यही कहती है।

होकर आ नहीं सकते हैं। इसलिये तू यदि उन पवित्र गुणोंको अपने हृदयमें बुलाना चाहता है तो उन कषायोंको जीतनेका प्रयत्न कर। उनके जीतनेका उपाय यही है कि संयम धारण करो और परिणामोंको शांत बनाओ। प्रशम, संवेग, अनुकंपा तथा इंद्रियविजय इत्यादि अनेकों उपाय इन कषायोंके ही जीतनेकेलिये बताये जाते हैं।

संसारमें ऐसे जन बहुत मिलते हैं कि जो उपदेश तो करते हैं परंतु स्वयं करनेमें स्खलित होते हैं। ऐसोंकी हसी करते हुए आचार्य कहते हैं कि,—

हित्त्वा हेतुफले किलात्र[1] सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुबिडालिके[2]ति तदिदं धिग्धिक् कलेः प्राभवं,
येनैतेपि फलद्वयप्रलयनाद् दुरं विपर्यासिताः॥ २१४॥

अर्थः—कितने ही जीव आप ज्ञानी बनकर संसारके कारणभूत कषाय व कषायोंके फलभूत विषयसेवन तथा विषयजन्य दुःखोंको छोडना चाहते हैं और परभवके सुधारनेकी इच्छा रखते हैं। इस सबकेलिये मनको शांत बनाना चाहिये ऐसा उपदेश भी करते हैं। शांत मनकी सदा प्रशंसा करते हैं। परंतु वास्तविक मोक्ष व मोक्षके साधनभूत कषायविजयादि उपायोंमें उनका मन नहीं लग पाया है इसलिये उनका वह सारा उपदेश तथा सर्व चेष्टा केवल लोगोंको फसानेकेलिये समझना चाहिये। जैसे बिल्ली चूहोंको चाहे जितना उपदेश दे परंतु वह केवल फसानेकेलिये समझना चाहिये। यह सब कलिकालकी महिमा है कि जिसने सत्य हितके ज्ञाता तथा उपदेशकोंको भी उस ज्ञान तथा उपदेशके फलसे वंचित बना रक्खा है। इस कलिप्रभावको धिक्कार हो। विचारे वे तपस्वी या पंडित न तो इधरके ही

---

१ किलेत्यरुचौ कष्टे वा।

२ आखुबिडालिकान्याय आखुबिडालचेष्टावत्वद्योतकः।

रहते हैं और न उधरके । संसारके वर्तमान विषयभोगसुखोंको तो वे परलोक-सुखकी अभिलाषाके वश होकर छोड चुके हैं, और सच्चे वीतरागी नहीं बनपाये हैं इसलिये परलोकके सुखोंसे यों वंचित रहगये। विचारे वे अज्ञानवश दोनो सुखोंसे दूर रहकर यों ही मारे मारे फिरते हैं।

कषायविजय करनेमें चूकनेका स्थल दिखाते हैं:—

उद्युक्तस्त्वं तमस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषाया,
प्राभूद्बोधोप्यगाधो जलमिव जलधौ किंतु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

अर्थः—तू तप करनेमें तत्पर हो चुका है और तेरे कषाय भी अत्यंत कृष होगये हैं। समुद्रमें जैसे जल अथाह संचित हो जाता है वैसे ही तेरे हृदय-समुद्रमें अथाह ज्ञान भी प्रगट हो चुका है। कषायका वेग भी रुक गया है।

परंतु अभी कर्मका उदय जारी रहनेसे कुछ थोडासा छिपा हुआ कषाय मौजूद है। जैसे किसी सरोवरमेंसे पानी सूख गया हो परंतु उसके किसी किसी खड्डेमें थोडा थोडा पानी तो भी रह जाता है। इसी प्रकार तेरे हृदयमेंसे कषायका प्रवाह तो निकल गया है परंतु अपने समान ज्ञानी व तपस्वियोंके साथ कुछ मत्सरता शेष रह गई है। परंतु वह इतनी सूक्ष्म है कि दूसरे उसकी सत्ताको समझ भी नहीं पाते हैं। वह अभी छूटी नहीं है। उसका निकलना कठिन भी है। परंतु उसे दूर करनेका प्रयत्न तू अवश्य कर।

भावार्थः—बाकी सारे कषाय कम हो जानेपर भी साथियोंके साथ मत्सरता प्राय सभीके हृदयमें बनी रहती है। और वह मत्सरता सहजमें नहीं छूट सकती है। इ ीलिये उसे दुर्जय बताया है तथा उसका मुख्य उलेख करके दिखाया है। साथियोंके साथकी मत्सरता छोडदेना मानो बडा ही कषायोंका विजय हुआ समझना चाहिये।

इससे इष्ट साध्यके साधनेमें विघ्न भी अनिर्वाच्य उत्पन्न होते हैं। इस-लिये भी यहां इसका मुख्य उल्लेख करके दिखाया है।

क्रोधकृत हानिः—

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्,
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां,
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः॥ २१६॥

अर्थः—कामवासना, यह एक मनोविकार है। इसीलिये इसका नाम मनोभू है। मन ही इसका निवास है। परंतु यह बात न समझ-कर महादेवने जब कि उन्हें कामने सताया तब क्रोधमें आकर साम-नेकी किसी वस्तुको भस्म करदिया; ऐसा जान पडता है। और उसीको समझलिया कि हमने कामदेवको जलादिया। पीछेसे उस कामने उन्हें खूब सताया और अनेक तरहसे अपमानित किया। बस, क्रोधके आवेश-वश महादेवको वास्तविक ज्ञान व उसके नाशका उपाय सूझ नहीं सका। इसीलिये उन्हें इतने कष्ट सहने पडे। क्रोधके आवेशमें पडनेसे किसकी हानि नहीं होती? क्रोधके वश जीव अंधा बन जाता है। कार्याकार्यविचार उसे नहीं रहता। इसलिये वह अनेक दुःख भोगता है।

मान करनेसे हानिः—

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत् प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति॥ २१७॥

अर्थः—बाहुबली अपने सीधे हाथकी तरफ आकर ठहरनेवाले च-क्रको छोडकर व सर्व परिग्रहको छोडकर जैसे वे सन्यासी बने वैसे ही तत्क्षण मुक्त होसकते थे। उनके उस तपकी इतनी शक्ति संभव थी।

परंतु उन्हें भाई भरत चक्रीके तरफका थोडासा मान लगा रहा। उस थोडेसे मानको निकाल न सके। इसीलिये चिरकालपर्यंत उन्होंने तपश्चर्याका घोर दुःख सहा। थोडासा मान भी बडी भारी हानि करता है।

व्यर्थ मान करनेपर आश्चर्यः—

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
येषां प्रागजनीह तेपि निरहङ्काराः श्रुतेर्गोचरा,–
श्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः॥२१८॥

अर्थः—जिनका वचन सदा सत्य निकलता था, जिनका अतुल ज्ञान शास्त्रसे परिपूर्ण था, हृदयमें सदा दया व शूरता वास करती थी, भुजाओंमें जिनके अतुल पराक्रम था, लक्ष्मीका सदा वास था। और जो याचकोंको परिपूर्ण तृप्ति हुए तक दान देते थे। तथा कल्याणके या धर्मके मार्गमें प्रवृत्त रहते थे। इतने गुण जिनमें वास करते थे ऐसे पूर्व कालमें बहुत पुरुष हो गये। परंतु उन्हें अहंकारका लेश भी नहीं था। ऐसा शास्त्र–पुराणोंमें सुनते हैं। किंतु आज जिन मनुष्योंमें उनके शतांश भी गुण नहीं हैं तो भी वे उद्धत होजाते हैं। यह बडा आश्चर्य है।

गर्व किससे करें? एकसे एक बडा है। देखोः—

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै,–
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं,
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु॥ २१९॥

अर्थः—जिस पृथ्वीपर समस्त जगका वास है वह भी दूसरोंने झेल रक्खी है। अर्थात्, संपूर्ण लोककी भूमिको पवनोंके बेढोंने अधर झेल रक्खा है। किसीकी समझ होगी कि उन पवनोंके बेढोंको तो

किसीने उठा नहीं रक्खा है, इसलिये वे तो सबसे बडे मानने चाहिये ? परंतु नहीं, उनसे भी बडा जगद्व्यापी कोई पदार्थ है । वह कौन ? आकाश । वह इतना बडा है कि उसके भीतर वह जगभरकी पृथ्वी तथा उस पृथ्वीके आश्रयभूत पवनोंके बेढे, ये सभी समा रहे हैं । अच्छा, इस आकाशको ही सबसे बडा मान लेना चाहिये ? नहीं, ये सब चीजें तथा संपूर्ण आकाश जिसके भीतर तो क्या, किंतु जिसके एक कोनेमें समा रहा है ऐसा भी एक पदार्थ है । वह कौन ? सर्वज्ञ । सर्वज्ञके ज्ञानमें ये चीजें तो क्या किंतु और भी जो कुछ हो वह भी आसकता है । अब कहिये, क्षुद्र प्राणी यदि अपनेसे श्रेष्ठोंके साथ गर्व करै तो क्या देखकर ? जगमें एकसे एक बडी चीजें पडी हैं ।

कपटकी निन्दाः—

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं,
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबहुवेषेण नितरा,–
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥ २२० ॥

अर्थः—मारीचने सुवर्णके हरिणका रूप रामचंद्रको छलनेके-लिये बनाया । इसलिये उसकी निन्दा जगभर पसर गई । संग्रामके समय धर्मराजने एक वार यह घोषणा करदी कि अश्वत्थामा मारा गया । बस, इतने ही कपटके कारण धर्मसुतके प्रेमी जन उन्हें क्षुद्र दृष्टिसे देखने लगे । कृष्णने बाल्यावस्थामें बहुतसे कपटवेष धरे थे । इतने ही परसे कृष्णका यश काला होगया । थोडासा भी विष बहुतसे दूधमें डालदेनेसे वह सारा दूध विगड जाता है । इसी प्रकार थोडासा भी कपट बडे बडोंके यशको मलिन कर देता है । अत एव,—

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥ २२१ ॥

---

१ मारीच, धर्मराज तथा कृष्ण, इन तीनोंकी कथाएं पुराणोंसे देखना ।

अर्थः—माया, मानो बडा गहरा एक खड्डा है। इसके भीतर सघन मिथ्यादर्शनरूप बहल अंधकार भरा हुआ है। इसी सघन अंधकारके कारण इस खड्डेमें निवास करनेवाले क्रोधादिक–सर्प तथा अजगर दीख नहीं पाते हैं। जो जीव इस मायागर्तके भीतर आफसता है उसे ये क्रोधादि-भुजंग ऐसा डसते हैं कि फिर वह जीव अनंतकालपर्यंत भी सचेत नहीं होता। इसलिये भाई, इस मायासे डरो। और भी,

प्रच्छन्नकर्म मम कोपि न वेत्ति धीमान्,
ध्वंसं गुणस्य महतोपि हि मेति मंस्थाः।
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो,
गूढोप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः॥ २२२॥

अर्थः—मैं अमुक एक दुष्कर्म करता हूं। परंतु छिपकर करता हूं इसलिये इसे कोई भी समझ नहीं सकेगा। इस दुष्कर्मके कारण यद्यपि मुझै बडा भारी पातक लगेगा और अमूल्य व पवित्र मेरे बडे भारी आत्मगुणका विघात हो जायगा; परंतु दूसरा कोई समझ नहीं सकता। अरे भाई, तू ऐसा कभी विचार मत कर। देख, चंद्रमें इतना बडा गुण हैं कि अपने शीतल किरणोंसे जगका वह अंधकार दूर करता हैं तथा सूर्यके किरणोंसे दिनमें संतापित हुए जनोंके संतापको दूर करता है। ऐसे इस चंद्रको राहु चाहें जितना छिपाता है परंतु वह चंद्र छिप नहीं पाता। छिपानेकी हालतमें वह यद्यपि दव जाता है परंतु उस दवे हुए चंद्रको तथा छिपानेवाले राहुको, इन दोनोंको ही लोग देखते हैं। ऐसा कोन मनुष्य होगा कि जो ग्रहणके समय उन दोनोंके गुप्त कर्मको देख न लेता हो। वस, इसी प्रकार चाहें जितना छिपाकर कोई पाप करै परंतु जाहिर हुए विना रहता नहीं है। किसी दुष्कर्मको छिपाना, इसीका नाम माया या कपट है। जब यह कपट जाहिर हो जाता है तब मायाचारीके बडे बडे फजीते होते हैं। इसीलिये माया रखना बुरा है।

लोभ-कषायकी बुराईः—

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः,
किल जडतया लोलो वालव्रजे विचल स्थितः।
वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः॥ २२३॥

अर्थः—चमरी नामकी गौ जंगली गौ होती है। उसकी पूंछके बाल बहुत ही सुंदर व कोमल होते हैं। उसे अपनी उस पूंछपर बडा ही प्यार रहता है। यह एक प्रकारका लोभ है। इस प्रेम या लोभके वश होकर वह अपने प्राण गमाती है। शिकारी या सिंहादिक हिंसक प्राणी जब उसे पकडनेकेलिये पीछा करते हैं तब वह भागकर अपना प्राण बचाना चाहती है। वह उन सबोंसे भागनेमें तेज होती है। इसलिये चाहें तो भागकर वह अपनेको बचा सकती है। परंतु भागते भागते जहां कहीं उसकी पूंछके बाल किसी झाडी-आडीमें उलझ गये कि वह मूर्ख वहीं खडी रह जाती है। एक पैर भी फिर आगे नहीं धरती। कहीं पूंछके मेरे बाल टूट न जांय, इस विचारमें प्रेमवश वह अपनी सुध-बुध विसर जाती है। बालोंका प्रेम उसके पीछे आनेवाले यमदंडको उससे विसरा देता है। बस, पीछेसे वह आकर उसे धर लेता है और मार डालता है। इसी प्रकार जिनको किसी भी वस्तुमें आसक्ति बढ जाती है वह उनको परिपाकमें प्राणांत करने तकके दुःख देनेवाली होती है। किसी भी वस्तुकी आसक्तिको भला मत समझो। सभी आसक्तियोंके दुःख इसी प्रकारके होते हैं। जिनकी विषयतृष्णा बुझी नहीं है उनको प्राय ऐसे ही दुःख सहने पडते हैं।

इस प्रकार ये सभी कषाय दुःख देनेवाले हैं। एकसे एक अधिक दुःखदायक हैं। इसलिये इन कषायोंको जीतना सबसे बडा व प्रथम कर्तव्य है। इन कषायोंका जीतना मानो मोक्षको प्राप्त करलेना है। इसीलिये जो दीर्घसंसारी जीव हैं उनके हाथसे कषायोंका विजय

नहीं होपाता। जो कषायोंका विजय करते हैं उन्हें समझना चाहिये कि उनका जहाज संसार-समुद्रके किनारेपर आलगा हैं।

उनकी पहिचान क्या है?—

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२४ ॥

अर्थः—विषयोंसे विराग, परिग्रहोंका त्याग, कषायोंका निग्रह, शांति होना, हिंसादि पापोंका छूटना, इंद्रिय व मनका निरोध, जीवादि तत्त्वोंका चिंतन, तपश्चरणकी तयारी, मनका नियमित होना, जिनेन्द्र देवमें भक्ति, परिणामोंमें दयालुता; ये सब बातें उसी महात्माको प्राप्त होती हैं कि जिसका संसार-समुद्रका किनारा समीप आचुका है।

इससे भी आगेकी प्रगट दशा कैसी होती है?—

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥ २२५ ॥

अर्थः—यमनियमोंमें[1] निश्चल होकर लगना, शरीरादि बाहिरी चीजोंसे अन्तर्यामी मनकी उपेक्षा होना, निर्विकल्प ध्यानमें मग्न होना, यावत् जीवोंमें करुणा उत्पन्न होना, शास्त्राज्ञानुसार व हित मित भोजन करनेकी आदत पडना और निद्रा प्रमाद इत्यादि दोषोंको जीतना; यह सब किसके हाथसे होसकता है? उसीके हाथसे कि असली आत्माका सार तत्त्व जिसको मालूम पड चुका है। और वही मनुष्य संसारके सर्व क्लेशोंका तथा क्लेशोंके दाता कर्मोंका निर्मूल नाश कर सकता

१ नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ श्रीसमन्तभद्रः॥ कुछ समयके लिये व्रत धारनेको नियम कहते हैं और यावज्जीव व्रतोंके स्वीकार करनेका नाम यम है।

है। वास्तवमें इतनी ऊंची वृत्ति होना उसीका काम है कि जो संसारके निकट आ पहुचा है। ऐसा मनुष्य भी यदि चिरसंचित कर्मक्लेशोंको निर्मूल नहीं करसकेगा तो दूसरा कौन करेगा? ऐसी दशा संसारवासीकी नहीं होसकती है। तब? परमात्मदशाको प्राप्त हुए साधुकी ऐसी दशा होगी। उसके मुक्त होनेमें फिर संदेह ही क्या है? देखोः—

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः॥ २२६॥

अर्थः—जिन मुनिराजोंने हेयादेयका पूरा ज्ञान प्राप्त करलिया है; जो सभी प्रकारके पापोंसे उपरत होचुके हैं, जिन्होंने अपना चित्त अपने सच्चे कल्याणकी खोजमें लगा रक्खा है; मन तथा इंद्रियोंका विषयोंकी तरफका प्रचार जिन्होंने रोकदिया है; जो सदा स्वपरके हितकारी वचन बोलते हैं; विद्यमान तथा भविष्यत विषयभोगोंकी तरफसे जो आकांक्षा हटा चुके हैं; ऐसे वीतरागी साधु मुक्तिके पात्र क्यों न हों? वे न हों तो दूसरा कौन होगा?

ऐसी दशा होजानेपर भी भ्रष्ट होनेका डर रहता है। देखोः—

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर,-
स्तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं,
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्जागृहि ॥२२७॥

अर्थः—अध्यात्मज्ञान होकर भी जिन्हें विषयी अज्ञानी जनोंका सहवास हो जाता है उनका मन फिर भी विषयोंमें फस सकता है। उन्हींकेलिये यह शिक्षा दिखाते हैं; कि रे भाई, जो विषयरूप स्वामीके दास हो रहे हैं उनका क्या बिगडता है? वे यदि सावधान रहैं तो क्या और असावधान बने रहैं तो भी क्या डर है? उनके पास

रक्षा करनेके लायक कोई चीज ही नहीं है। और तो क्या, उन्होंने अपना आत्मा भी पराधीन कर रक्खा है। गुण-दोषोंका विचार तक उनके हृदयमें नहीं रहा है। विषयोंके वश होकर उन्होंने अपनी ज्ञानादि-निधि सर्वथा खोदी है। अब उनके पास है ही क्या, जिसकी कि उन्हें चिंता हो? डर है तो उसको कि जिसके पास कुछ मौजूद हो। जिसके पास कुछ थोडीसी भी जड संपत्ति होती है वह भी उसे संभालकर रखता है। तेरे पास तो अपूर्व संपत्ति है। ज्ञान दर्शन व चारित्र ये तीनो महारत्न हैं। इनका प्रकाश जगभरमें पडेगा। ऐसे अपूर्व अमूल्य रत्न जिसके पास हों उसे तो सदा ही सावधानीसे रहना चाहिये। जहां संपत्ति है वहां उसके हरने या लूटनेवाले भी रहते ही हैं। तेरे रत्नोंको हरनेवाले इंद्रिय-चोर तेरे ही आस-पास फिर रहे हैं। तू थोडा भी अचेत हुआ कि इन्द्रिय-चोर तेरे ज्ञानादि-रत्नोंको हर लेंगे। इसलिये तू अच्छीं तरह जागता रह। भावार्थ, तू इंद्रियोंके विषयोंमें फिरसे मोहित मत हो। नहीं तो जैसे बाकी संसारी जीव अपना सर्वस्व गमाकर बैठे हैं वैसे तू भी अपनी निधिको गमा बैठेगा। जो अपना गमाचुके हैं वे तेरा भी गमाकर संतुष्ट होना चाहते हैं। इसलिये तू उन विषयाधीन जनोंकी संगति भी मत रख।

जो सर्व विषयोंको छोडकर साधु बन चुके हैं उनको मोह हो तो किस वस्तुमें हो? उनके पास कुछ रहा ही नहीं है? इसका उत्तर यह है कि उनके पास भी मोहके कारण हैं। क्या? देखोः—

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ २२८ ॥

भावार्थः—साधु-जन संसारवर्धक कुल विषयोंको तो छोड देते हैं परंतु संयमकी रक्षाकेलिये कमंडलु आदि कुछ थोडीसी चीजें तो भी

उन्हें पासमें रखनी पडती हैं। मोह ऐसी चीज है कि उन तुच्छ वस्तुओंमें भी उत्पन्न हो जाता है। और साधु-जन इसी धोखेमें रहते हैं कि हमने सारा संसार छोडदिया। हमको अब अज्ञान तथा मोह व मोहादिके कारण नहीं रहे। हमारी अब कुछ हानि नहीं होसकती है। साधुओंको ऐसी भूल होना संभव है। इसीलिये उस सूक्ष्म विषयाधीन मोहसे सावधान रहनेका इस श्लोकमें उपदेश है।

अर्थः—अतिरमणीय वनितादि वस्तुओंसे जब कि तू मोह हटा चुका है तो संयमकी रक्षाकेलिये केवल जिन थोडीसी चीजोंके रखनेकी तुझे आज्ञा मिली हैं उनमें तू क्यों वृथा ही मोहित होता है? इस मोहकी महिमाको तू समझता है। स्वल्प-वस्तुसंबंधी जो स्वल्प मोह संसारी जनोंकी विशेष हानि नहीं कर सकता है वही तेरेलिये भयंकर हानि पहुंचावेगा। जैसे औषध अजीर्णादि रोगोंका नाश करती है परंतु मात्रासे अधिक उसका सेवन करना अपाय करता है। इसीलिये जिसे अजीर्ण रोग हुआ हो वह रोग-शमनार्थ भोजनको त्यागकर औषध सेवन करता है। परंतु वही औषध यदि आसक्ति रखकर अधिक सेवन कीजाय तो उलटी अजीर्ण बढानेवाली होगी। इसीलिये जो बुद्धिमान् है वह अजीर्णशमनार्थ भोजनका त्याग करता है और औषध पीता है। परंतु वह केवल औषधको अधिक पीकर कभी अपना अजीर्ण बढावेगा नहीं। जो औषध सेवन करता हुआ भी आसक्तिवश अजीर्णको बढालेता है वह मूर्ख है। इसी प्रकार जो आत्मकल्याणार्थ सारे संसारको छोडकर आवश्यकतानुसार रक्खी हुई थोडीसी वस्तुओंमें ही मोहित हो बैठता है वह नितान्त मूर्ख है। मोहित ही होना था तो संसारको क्यों त्यागा? भावार्थ, जबतक कर्मोंका नाश नहीं हुआ तबतक कार्यसिद्धिमें अनेकों तरहसे डर ही डर है। इसलिये साधुको सदा निर्मोही व सावधान रहना चाहिये।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ श्रीसमन्तभद्रः॥

कभी निश्चिंत भी होगा या नहीं ?—

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा,
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि ।
कृषीवल इवोज्झितं करणचोरबाधादिभि,-
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥ २२९ ॥

अर्थः—किसान खेतमें बीज बोता है । परंतु बीज ऊगकर फल मिलनेतक बहुतसी बाधाएं बीच बीचमें आती हैं । उन सभी बाधाओं- को हटाता हुआ किसान अपने खेतकी पूरी व सदा ही रक्षा करता है। जबतक कि खेतीका फल वह अपने घरमें नहीं लाकर रखता तबतक सदा ही सचेत रहता है । निश्चिंत वह तभी होपाता है जब कि बाहिर पैदा किये हुए अनाजको घरमें लाकर रखलेता है ।

इसी प्रकार जिस साधुका विचार दृढ है वह तपश्चरण व शास्त्र- ज्ञानको बाहिरकी तरफ प्रकाशित करता है, उसे बढाता है, परंतु इतनेसे वह निश्चित नहीं बन जाता । इस सबका फल यह है कि आत्मा वीतरागी होकर संसारसे मुक्त होजाय । जबतक यह फल प्राप्त नहीं हुआ है तबतक निश्चित बनकर बैठना ठीक नहीं है । क्योंकि, इंद्रिय-चोरोंका बीचमें सदा ही डर है । इसलिये जब वह साधु इन सब बाधाओंको हटाकर वास्तविक अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लेता है तब वह अपनेको कृतार्थ मानता है और निश्चित होकर बैठता है ।

कितने ही यह समझते हैं कि शास्त्रज्ञान होनेपर विषयमोह कुछ कर नहीं सकता है । परंतु आचार्य कहते हैं कि जबतक कषायों- का संस्कार क्षीण नहीं हुआ तबतक भरोसा नहीं कि कब उस कषा यका उद्रेक बढ जाय । तबतक ज्ञानियोंके चित्तको भी मोह होना दुस्साध्य नहीं है । इसीलिये विषयासक्तिसे कभी स्वस्थ होकर मत बैठो । सदा उससे डरते रहो व उसे दबाते रहो । देखोः—

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं,
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाऽऽशाद्विषम्।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः,
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः॥२३०॥

अर्थः—मुझे तत्त्वोंका पूर्ण ज्ञान होचुका है। ज्ञानी मनुष्यके सामने यह विषयाशा–शत्रु कुछ नहीं है। अरे भाई, तू ऐसा ज्ञानका मद मत कर। ऐसा मद रक्खा तो आशा-शत्रुकी उपेक्षा हो जायगी किंतु उसकी तरफसे निश्चित होना ठीक नहीं है। इस शत्रुको तो जैसे बन सकै वैसे सदा दवाता ही रह। यह आशा–शत्रु इतना प्रबल व भयंकर है कि इससे तीनो लोकके प्राणी दव रहे हैं। जबतक इसका नाश नहीं हुआ तबतक तू कभी स्वस्थ मत बैठ। जगमें जबतक किसीको शत्रु दवारहा हो अथवा जिसका शत्रु जीता हो तबतक उसे शांति कैसी? देखो, समुद्रमें जलकी कमी नहीं है–अगाध जलका वह स्वामी है। तो भी उसे सदा बडवाग्नि जलाता ही है। शत्रुका रहना सभीको दुःखदायक होता है। पूरा निर्मोह हुए विना आशापाश छूटेगा नहीं। यह आशा पवित्र ज्ञानादि गुणोंको भी प्रशंसायोग्य होने नहीं देती है। देखोः—

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य॥ २३१॥

अर्थः—जबतक किसी साधुके हृदयसे स्नेह निर्मूल नष्ट नहीं हुआ तबतक उसके ज्ञान–चारित्रादि गुणोंकी प्रशंसा नहीं हो पाती है। दीपकसे प्रकाश जो होता है वह उत्तम कार्य है। परंतु साथ ही जो काजल निकलता है उसे लोग अच्छा नहीं मानते हैं। यदि दीपकमें

---

१ ज्ञानिनामपि चेतांसि महामाया प्रमोहयेत्॥

२ आशाद्विट्। ३ जगत्त्रयस्यैकं डमरं–भयं क्षोभो वा यस्मात्तम्।

४ आशा अर्थात् स्नेह या राग। यहां द्वेषका संग्रह उपलक्षणसे होसकता है।

तेलका स्नेह न होता तो काजल नहीं निकलता और उसकी निंदा भी न होती। इसी प्रकार साधुके ज्ञानादि गुण आत्माको पवित्र बनाते हैं परंतु साथ ही स्नेहांशकी सत्ता उसमें मलिनता उत्पन्न करती है जिससे कि ज्ञानादि गुणोंकी सारी कृति मलिन हो जाती है। इसलिये मोहको जैसे होसके छोडो। मोहका माहात्म्य ऐसा है कि वह वीतरागता नहीं होने देता। और वीतरागता जबतक नहीं हो तबतक सब व्यर्थ है। देखोः—

रतेररतिमायातः पुना-रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो वत सीदसि॥ २३२॥

अर्थः—कभी तू रति करता है और कभी रति छोडकर अरति धारण करता है। रति=राग, अरति=द्वेष। बस, इसीमें सदा संकल्प विकल्प करता हुआ उलझ रहा है। तीसरा उदासीनताका पद तुझे जबतक प्राप्त नहीं होता तबतक इसी प्रकार तू दुःख भोगता रहेगा। जबतक बाह्य वस्तुओंमें रागद्वेष मानता हुआ उलझ रहा है तबतक उदासीनता कहांसे प्राप्त होगी? अरे तू बडा मूर्ख है। तुझे अभीतक अपना हित मालूम नहीं पडा। ऐसी अवस्थामें तू कभी सुखी नहीं होसकेगा। देख,—

तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि॥ २३३॥

अर्थः—आगसे तपे हुए लोहके गोलेकी तरह तू दुःखोंसे संतप्त होरहा है। इस दुःखसंतापका नाश तू तबतक नहीं कर सकता जबतक कि मोक्षसुखरूप अगाध जलके स्वामी समुद्रमें गोता नहीं लगावेगा। संसारकी दशामें भी दुःख दूर करनेके उपायोंको लोग तलास करते हैं और उन्हें पाकर वे सुखी होते हैं। परंतु उनका वह सुख वास्तविक नहीं है। इंद्रियोंके विषय अनुकूल मिलना, इतना ही संसा-

---

१ 'सुखसीकरैः' ऐसा पाठ संस्कृत टीकामें मिलता है।

रका सुख है। परंतु वह स्वाधीन नहीं होता व शाश्वत नहीं रहता। इसीलिये उस सुखमें आनंद मानना मानो सदाकेलिये सच्चे सुखसे विमुख बनना है। इसलिये तू मोक्षसुखको जैसे होसके प्राप्त कर। देख,—

मंक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यङ्कारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥ २३४ ॥

अर्थः—श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनका प्राप्त होना, यही मोक्षकी प्राप्तिका वास्तविक उपाय है। इस उपायसे उस मोक्षको स्वाधीन बनाकर शीघ्र ही अपने हस्तगत कर। किसी चीजको अपने हस्तगत करनेमें उसकी कीमत देनी पडती है। मोक्षको अपने अधीन करनेमें परिपूर्ण ज्ञान-चारित्रकी आवश्यकता है। इसलिये ज्ञान-चारित्र ही मोक्षप्राप्तिकेलिये मूल्य है। वह मूल्य पूरा अपने पास हुआ तो मोक्षको हस्तगत करलेना कोई कठिन नहीं है। भावार्थ, जबतक तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको पूरा संचित करके उसके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति नहीं कर पाया है तबतक स्वस्थ मत बैठ। विषयोंके सुखसे अपना मन संतुष्ट करके स्वस्थ कभी मत हो। देख, विषयोंमें रत होना न होना, यही अज्ञान व ज्ञान है:—

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी २३५

अर्थः—पूरा बहिरात्मा बनकर यदि देखा जाय तो सारा जग सुख-दुःखका कारण होनेसे भोगने योग्य दीख पडेगा। जो अनिष्ट है उसको दूर करना, यह उस अनिष्टका भोगना है। और जो इष्ट है उसको ग्रहण करना, यही उसका भोगना है। अथवा, सभी पदार्थ किसी न किसीकी अपेक्षा सफल या प्रयोजनीय होते हैं। इस न्यायसे यदि देखा जाय तो भी सब जगत् सार्थक व उपभोग्य ठहरता है। परंतु यह कबतक? जबतक कि अन्तरङ्ग दृष्टिका लेशमात्र भी प्रकाश नहीं है; किंतु केवल बहिर्मुख होकर जिसकी सारी प्रवृत्ति होरही है। जो आत्मानंदका भोक्ता होकर बाहिरी चीजोंसे पूरा निवृत्त हो चुका

है उसकेलिये यह सारा जग संकटका कारण होनेसे तथा अपूर्व आत्मानंदका विघातक होनेसे सर्वथा हेय है, अभोग्य है, उपेक्षणीय है। जग तो एक ही है परंतु दृष्टिभेदके कारण दो प्रकारका कहनेमें आसकता है। अब मोक्षार्थीको क्या करना चाहिये? उसे यह करना चाहिये कि हेयोपादेयताकी अपेक्षा समझकर निवृत्तिका अभ्यास करै। क्योंकि, वास्तविक आनंद आत्मानंद है और वह जगसे निवृत्ति पानेपर प्राप्त होसकता है।

निवृत्ति करते रहनेसे सदा निवृत्तिमें व्याकुलता रखनी पडती है। इसलिये क्या निवृत्ति ही सदा करनेमें लगा रहना चाहिये? नहीं। तो फिर,—

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥ २३६ ॥

अर्थः—निवृत्तिकी भावना तबतक करो जबतक कि बाह्य उपाधि हट कर आत्मानंदकी पूरी प्राप्ति नहीं हुई हो। जब कि बाह्य उपाधियोंसे चित्त हटकर आत्मानंदमें पूरा लीन हुआ कि फिर न प्रवृत्ति ही करना शेष रहता है और न निवृत्ति करना। जब कि आत्मानंदमें जीव मग्न हुआ तो फिर प्रवृत्ति किसमें और निवृत्ति किससे? यह कल्पना वहां मिट जाती है। वस, इसीका नाम अविनाशी मोक्षपद है।

रागद्वेष कैसे मिटैं?—

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥ २३७ ॥

अर्थः—राग-द्वेषका ही नाम प्रवृत्ति है और उसके रोकनेको निवृत्ति कहते हैं। राग-द्वेषका होना बाह्य विषयके अधीन है। इसीलिये राग-द्वेष दूर करनेकेलिये बाह्य विषयोंसे संबंध छोडो। भावार्थ, रागद्वेष ही दुःखके कारण हैं। और रागद्वेषकी उत्पत्ति विषयोंसे होती है। इसलिये रागद्वेष दूर करना यदि पसंद है तो बाह्य विषयोंको

हटाओ । कितने ही लोगोंकी जो यह समझ रहती है कि विषयोंमें रहकर भी परिणाम शुद्ध रखनेसे कल्याण होना संभव है; वह भूल है । जबतक उपाधि हटती नहीं है तबतक उसके कार्य जो रागद्वेष वे अवश्य उत्पन्न होंगे । वे उत्पन्न हुए कि आकुलताजन्य दुःख निःसंदेह होगा । और जब कि उपाधि हटादी गई तो फिर प्रवृत्तिकी भावना ही नहीं रहती । बस, इसीलिये वह सच्चा सुख है ।

उदासीन भावनाका स्वरूपः—

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥ २३८ ॥

अर्थः—अब मुझे संसारभ्रमणका उच्छेद करके आत्मसुख प्राप्त करना है । इसलिये जो भावना संसारचक्रमें पडे हुए आजतक मैंने धारण कर रक्खी थीं उन्हें तो अब मैं छोडता हूं और जो आजतक कभी धारण नहीं कीं उनका चिंतवन करता हूं । क्योंकि, आजतककी भावनाओंसे संसारकी वृद्धि हुई । उसके क्षयके कारण आजतककी भावनाओंसे उलटे ही होंगे । आजतककी संसारवर्धक भावना मिथ्यादर्शन, विपरीत ज्ञान व उलटी प्रवृत्ति । अब जिन भावनाओंको स्वीकार करना है वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र हैं ।

इसीका विशेष कथनः—

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥

अर्थः—शुभाशुभ दो योग, इससे आनेवाले पुण्य-पाप ये दो कर्म, इसका फल सुख दुःख ये दो । ऐसे ये मिलकर छह होते हैं । इनमेंसे शुभ योग, पुण्य कर्म, सुखानुभव ये तीन हितावह होनेसे ग्राह्य हैं । बाकीके तीन दुःखजनक होनेसे हेय हैं । भावार्थ, तीनो हेय विषयोंको छोडकर उपादेय तीनोका स्वीकार करना अवश्य है । पहिली अवस्थामें

मेरी इस प्रकार भावना होनी चाहिये और तदनुसार शुभ, पुण्य, सुख इनमें कार्यकारण तथा भेदाभेदका विचार करके प्रवर्तना चाहिये।

इसमें भी आगेका भावनाका क्रमः—

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २४० ॥

अर्थः—अशुभ, पाप व दुःख ये तीनो हेय होनेके कारण छोडदेने चाहिये। परंतु इन तीनोंमेंसे अशुभ, यह योग होनेसे पापकर्मका तथा पाप कर्माधीन प्राप्त होनेवाले दुःखका कारण है; इसलिये सबसे प्रथम अशुभोपयोग ही छोडो। कारण न रहा तो आगेके पाप व दुःख ये दोनो कार्य अपने आप ही नहीं रहेंगे।

इस प्रकार अहितकारी तीनोंको छोडनेपर हितकारी तीनोंका विचार करना चाहिये। शुभ, पुण्य व सुख ये तीनो हितकारी हैं। इनमें भी शुभ यह योग होनेसे पुण्य कर्मबंधका कारण है। पुण्यकर्म इसका कार्य है। पुण्यका भी उत्तर कार्य सुख है। इसलिये शुभ, यह पुण्यका साक्षात् तथा सुखका परंपरया कारण है। अशुभ, दुःखका कारण होनेसे प्रथम ही छोडादिया गया। शुभ, यह सुखका कारण है परंतु कौनसे सुखका? संसारी सुखका। इसलिये वास्तविक दृष्ट्या यह भी संसारका कारण होनेसे छोडना ही चाहिये। बस, यहां भी शुभ छूटा कि इसके दोनो कार्य भी अपने आप हट जाते हैं। इस समय अंतमें केवल शुद्ध या पूर्ण वीतराग-दशा रह जाती है। यह दशा प्राप्त हुई कि परम धाम प्राप्त होता है।

आत्मा ही नहीं है तो मुक्त कौन होगा? अथवा है तो भी वह मुक्त किससे हो? अमूर्त आत्माको बंध ही संभव नहीं है। कदाचित् वन्ध हुआ भी तो फिर बन्ध ही रहेगा। उसके छूटनेका कोई संभव

१ इस श्लोकका अर्थ संस्कृत टीकामें उतना स्पष्ट नहीं लिखा जितना कि टोडरमलजीने अच्छा लिखा है।

नहीं है। यदि छूट सकता है तो कब और कैसे छूटेगा? ऐसी आशंकाओंको हटानेकेलिये नीचे कहते हैं किः—

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै,-
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४१॥

अर्थः—ज्ञान इच्छा राग द्वेष व इनके प्रकार, एवं जन्मते ही स्तन्यपान, इत्यादि विचित्रता या असाधारणता देखनेसे आत्मा मानना पडता है। अनिष्ट दुःखोंको भोग रहा है इसलिये वह परतंत्र अथवा बद्ध भी मानना पडता है। पूर्व कर्मोंका नाश होता रहता है व नवीन कर्मोंका संचय होता जाता है इसलिये अनादिसे यह जीव कर्मबद्ध ही चला आ रहा है। उन कर्मोंके स्थिति अनुभागादि व ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार हैं। कर्मपिण्डका बन्धन मन वचन शरीरकी चंचलतासे होता है। कर्मपिण्डमें फलदान शक्ति तथा बँधनेकी शक्ति क्रोधादि कषायोंसे उपजती है। कर्मपिण्डका आना व फलदानादि शक्तिका उपजना ये दोनो कार्य एक साथ होते हैं इसलिये दोनोंके कारण भी एक ही साथ जमा हो जाते हैं। अर्थात्, कर्मपिण्डकेलिये निमित्तभूत चंचलताको कषाय मिलकर उत्तेजित करते हैं तब यह बंध सुरू होता है। कषायोंका प्रादुर्भाव तब होता है जब कि आत्मा प्रमादी बनता है। प्रमादकी वृद्धि हिंसादि अव्रत-कर्मोंके करनेसे होती है। हिंसादि अव्रतोंमें जो जोर बढता है वह मिथ्यात्वके सहवाससे। इस प्रकार यह जीव इन उत्तरोत्तर कारणोंके मिलनेसे अधिकाधिक मलिन होता है। उपदेश आदि निमित्तोंके मिलने पर कदाचित् किसी एक मनुष्यभवमें यदि इस प्राणीको सम्यग्दर्शन, व्रत, विवेक तथा वीतरागता व निश्चलता प्राप्त हो जाय तो यह प्राणी तरजाता है। सबसे प्रथम

१ "स्तिमितादिबन्धनगतः" ऐसा भी पाठ है। स्तिमितं स्थितिः।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है; फिर छट्ठे गुणस्थानतक क्रमसे व्रत, और उसके आगे शुक्लध्यानादिरूप विवेक, विवेकके बाद दशम गुणस्थानके अंतसे लेकर वीतरागता प्राप्त होती है। और सबके अंतमें चंचलताका अभाव होता है। चंचलताका ही नाम योग है। जैसे ये कारण प्राप्त होते जाते हैं वैसे ही इसकी कर्मोंसे मुक्ति भी होती जाती है। मुक्त होनेका यही क्रम है और ये ही उसके कारण हैं।

मुक्तिका बाधक कारणः—

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् काशा तपःफले॥ २४२॥

अर्थः—यह शरीरादिक मेरा है, मैं इसका हूं; ऐसी प्रीति जबतक आत्मामें तन्मय होकर लग रही है तबतक तप निरर्थक है। तपका असली फल मोक्ष प्राप्त होना है। परंतु बाह्य वस्तुओंमें प्रीति, मानो एक प्रकारका भयंकर उपद्रव[2] है। चूहे आदिकोंका उपद्रव जिस प्रकार भयंकर व सर्वस्व हानि करता है उसी प्रकार विषय-प्रीतिके होते ही मोक्ष-पदका विघात हो जाता है।

मामन्यमन्यं मां मत्त्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योहमहमेवाहमन्योन्योन्योहमस्ति[3] न॥ २४३॥

अर्थः—जीव जबतक इस भ्रान्तिमें पडकर अज्ञानी बन रहा है तबतक संसारसमुद्रमें भ्रमेगा। वह भ्रान्ति कौनसी? ऐसा मानना ही वह भ्रान्ति है कि मैं शरीरादिमय हूं अथवा शरीरादिक ही मैं हूं।

---

१ टोडरमलजीने ' अयोगैः ' ऐसा पदच्छेद न समझकर इनके योगसे ऐसा अर्थ लिख-दिया है परंतु वह ठीक नहीं है। ठीक न होनेका हेतु एक तो यह है कि संस्कृत टीकामें ' अयोग ' एक कारण माना है, दूसरे, यही संभव है; तीसरे बहुवचनान्त पद तभी चरितार्थ होगा।

२ उपद्रव सात प्रकारके माने जाते हैंः—अतिवृष्टि, अनावृष्टि मूषक, टिड्डी, सुआ, स्वचक्र, परचक्र। इन्हीको ईति भी कहते हैं। ३ 'अस्मि' ऐसा पाठ ठीक दीखता है।

अरे भाई, शरीरादि कभी अपना स्वरूप नहीं होसकते और आप स्वयं कभी शरीरादिरूप नहीं होसकता है। मैं, मैं ही रहूंगा; शरीरादिक जो भिन्न हैं वे भिन्न ही रहेंगे। ऐसा निश्चित ज्ञान जबतक नहीं उत्पन्न होता तबतक संसारसे छुटकारा होना असंभव है।

दृष्टिके फेरसे उसके फलमें फेरफारः—

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना,
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्॥ २४४॥

अर्थः—आजतकके पहिले भवोंमें मेरी बाह्य वस्तुओंमें अकथनीय प्रीति रही। इसीलिये वे वे पदार्थ सब निबिड बंधके कारण हुए। परंतु अब मुझे सत्य आत्मज्ञान प्रगट हो चुका है और इसीलिये वैराग्य भी सीमान्त प्राप्त हो चुका है। इसलिये जो पदार्थ बंध उत्पन्न करते थे वे ही आज बंधका नाश कर रहे हैं। ठीक ही है। कहां वह अज्ञान और कहां यह सच्चे ज्ञानियोंकी अनुपम कुशलता? बडा अंतर है। बंधका कारण क्रियामात्र नहीं है किंतु परिणाम हैं।

बन्धव्युच्छेद–क्रमः—

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः॥ २४५॥

अर्थः—अभव्य जीवोंमें कर्मबंधन सबसे अधिक होता है और आसन्न भव्योंमें समान, एवं अतीव आसन्न भव्योंमें केवल कर्मोंका

---

१ यद्वा क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

२ पहिले छापेमें इस श्लोकका अर्थ करते समय कुछ चूक की है। वह यह कि, पहिले गुणस्थानमें अविपाक-निर्जरा नहीं होसकती परंतु उन्होंने बताई है। यदि वह निर्जरा सविपाक मानी जाय तो फिर थोडी लिखना भूल है। दूसरी भूल यह है कि चतुर्थ गुणस्थानमें बन्ध व निर्जराको समान बताया है। किंतु ऐसा है नहीं। तीसरे गुणस्थानमें वह समान हैं और चौथेमें बंध थोडा है निर्जरा अधिक है; ऐसा कहना चाहिये था।

मोचन होता है। यह संसारके जीवोंकी दशा है। जहांपर जितना कर्मबंधन कम है वहांपर उतनी ही निर्जरा समझनी चाहिये। यह अभिप्राय अनेक जीवोंकी अपेक्षा कहा। अब एक ही जीवकी जैसी जैसी दशा बदलती है वैसा वैसा कर्मबंधनमें अंतर पडता है यह भी दिखाते हैं। वह कैसे ?

जब मिथ्या गुणस्थान रहता है तब जीवको कर्मबंधन सबसे अधिक होता है। अथवा यों कहिये कि, वहां केवल बंध ही बंध है। जीव कर्मबंधनकी जिस निर्जरासे मुक्त होसकता है वह अविपाक-निर्जरा वहां लेशमांत्र भी नहीं होती। आगे चलकर जब जीवकी अर्ध शुद्ध मिश्रगुणस्थानकी दशा प्राप्त होती है तब कर्मबंधन पहिलेकी अपेक्षा आधासा कम होने लगता है और पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होना भी सुरू हो जाता है। यहांसे भी ऊपर चलकर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब कर्मोंका बंधन बहुत ही थोडा होने लगता है और पूर्वकर्मोंकी निर्जरा बहुत अधिक होने लगती है। जब जीव यहांसे ऊपर चलकर कषायोंका क्षय कर डालता है तब कर्मोंका बंध होना रुक जाता है और पूर्वकर्मोंकी केवल निर्जरा ही निर्जरा होने लगती है। यद्यपि सद्वेद्य-कर्मका बंध वहां भी होता है परंतु वह उसी समय छूटता भी जाता है इसलिये असली बंध होनेका वहांसे लेकर अभाव ही समझना चाहिये। बस, थोडा आगे चलकर वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। यह कर्मोंके बंधन व मोचनका प्रकार है।

फल देकर जो कर्मोंका क्षय होना है उसकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो निर्जरा भी बंधके बराबर ही होती है और वह सभीको होती है परंतु उसके होते हुए भी जीवका वास्तविक छुटकारा नहीं होसकता है; क्योंकि, उस अवस्थामें जैसी निर्जरा होती है वैसा ही बंध भी नवीन नवीन होता ही जाता है। इसलिये वह निर्जरा मोक्षा-

१ यहां श्लोकके ‘ अधिक ’ शब्दका अर्थ अत्यंत या सर्वथा करना चाहिये।

र्थीके कामकी नहीं है। तो फिर मोक्षार्थीके कामकी कैसी निर्जरा होनी चाहिये ?—

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥ २४६ ॥

अर्थः—जिस साधुके पूर्वसंचित पुण्य तथा पाप, दोनो ही कर्म फल न देते ही छूट जाते हैं वही सच्चा योगी है और उसीको निर्वाण पद प्राप्त होता है। ऐसे योगीको फिर नवीन कर्मोंका संचय नहीं होता।

कर्मोंका निष्फल नष्ट करना कैसे हो ?—

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥ २४७ ॥

अर्थः—अहिंसादि पांच महाव्रत तथा परीषह-जय, एवं कायक्लेश व स्वाध्याय ध्यान, इत्यादि अनेकों घोर तप हैं। इन सबोंका एकत्र धारण करना, वह हुआ मानो एक तालाव, इस तालावमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो अनुपम गुण रहते हैं वह मानो जल है। यह तालाव इस जलसे भरा हुआ हो तभी इस तालावकी शोभा है। परंतु यह जल पूर्ण भरा तभी रहेगा जब कि इसकी पाल ठीक ठीक बँधी रहेगी। इसकी पाल क्या है? मर्यादा या प्रतिज्ञा अथवा संयममार्गको जो एक वार यावज्जीवन स्वीकार किया है वही इसकी पाल है। बस, यह पाल ठीक ठीक सुरक्षित रहनी चाहिये। यदि पाल टूटी तो जल नहीं ठहर सकेगा। ठीक ही है, जब साधु मर्यादाका उल्लंघन करके यद्वा तद्वा प्रवर्तने लगा हो तो मोक्षके साधक ज्ञानादि गुण कैसे ठहर सकते हैं? ज्ञानादि गुण नष्ट हुए कि वीतरागता छूटकर रागद्वेषकी मात्रा दहकने लगेगी। कर्मबंधका यही कारण है। जब कि रागद्वेष जाज्वल्यमान होचुके तो पूर्वबद्ध कर्म आत्माको रागद्वेष जगाकर अवश्य दुःख देंगे। दुःखका अनुभव होना इसीका नाम राग-

द्वेष है। इसीलिये जिस साधुमें रागद्वेष जाज्वल्यमान होचुके हों उसका फिर निर्वाण प्राप्त होना कठिन नहीं किंतु असंभव है। इसीलिये भाई, मर्यादामें थोडासा भी भंग होना अच्छा मत समझो, उसकी उपेक्षा मत करो। भंग होता दीखै तो तत्काल उसे संभालो।

मर्यादाभंगके हेतुः—

दृढगुप्तिकपाटसंवृतिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः।[1]
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ॥२४८॥

अर्थः—घरके दरवाजोंमें किवाड लगाने पडते हैं, घरकी भीतें ठीक रखनी पडती हैं। तो भी कहीं कोई छेद हो जाय तो उसीमेंसे सर्प घरमें घुस जाते हैं। इसलिये घरका स्वामी छेद भी न रहने देनेकी सावधानी रखता है। बस, यही अवस्था योगीकी है।

यतिका शरीर, यह मानो एक घर है। शरीर-वचन-मनकी पूर्ण सावधानी या स्थिरता, ये जिस घरके किवाड हैं। ये किवाड अच्छी तरह बंद कर रक्खे हैं। प्रवृत्ति करनेमें जो धैर्य है वे ही जिस घरकी भीतें हैं। निर्दोष, दृढ व पवित्र बुद्धि, यही जिसकी मजबूत नीव है। घरके समान यह साधुका शरीर इतना दृढ तथा सुरक्षित है। तो भी इसमें कदाचित् किसी तरफ यदि कोई प्रमादादिरूप छोटासा छेद पड जाय तो उसीके द्वारा कुटिल रागदि-सर्प घरके भीतर घुस जाते हैं और घरको भयंकर बनादेते हैं। प्रमाद अथवा व्रतादि भंग करना, यही साधुशरीररूप घरके भीतर घुसनेकेलिये छेद समझना चाहिये। भावार्थ, प्रमादादि दोष ही साधुके आत्माको कर्मबद्ध करनेके कारण हैं। इसलिये प्रमाद तथा व्रतभंग एवं वृतातीचार, इन सर्वोंको न आने देना चाहिये। इनका आना पूरा पूरा रुकगया तो पूर्वबद्ध पुण्यपाप कर्म यों ही निकल जांयगे और साधु शीघ्र ही संसार व शरीरादिसे मुक्त हो जायगा।

---

१ यह विषम छन्द है। अथवा, 'संवृतिर्वै' ऐसा होसकता है।

प्रमादादि दोष कैसे आते हैं ?—

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः ।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥ २४९ ॥

अर्थः—साधु, जब कि सभी पापारंभसे निवृत्त होचुका है तो उसमें कषायोंका उद्रेक बढना सहज संभव नहीं है। परंतु पासमें जो शरीर शेष है उसमें यदि आसक्ति होने लगै तो कषायोद्रेक हो जाना संभव है। अत एव इस आसक्तिको क्षीण करनेकेलिये वह साधु अति दुर्धर कायक्लेशादि तपोंको सदा करता रहता है। उसकी यह समझ हो रही है कि यदि मैं तपश्चरणमें सावधान रहा तो रागादि या प्रमादादि दोष मुझमेंसे निकल जांयगे। आश्चर्य, वह साधु यह नहीं समझता है कि मैं चाहें कैसे ही घोर तपश्चरणोंद्वारा दोष न बढने देनेकी सावधानी रक्खूं परंतु दूसरोंके दोष गानेसे तथा सुननेसे भी वे दोष बढेंगे। इस अज्ञानमें पडा हुआ वह साधु दूसरोंके दोष देखता है, दूसरोंसे कहता है, सुनता है। इस विपरीताचरणके वश वह सदा ही अपने प्रमादादि दोषोंको बढाता है। अरे भाई, यदि कोई अजीर्णादि दोष हटानेकेलिये वायुसेवन या भ्रमणादि क्लेश तो सहता हो किंतु गरिष्ठ भोजन करता ही जाय तो उसका वह दोष किस प्रकार नष्ट होगा ? प्रमादादि दोषोंके शमनार्थ तप करना तो भ्रमणादिके तुल्य तुच्छ उपचार है और परदोषकथादिका छोडना भोजनत्यागके तुल्य मुख्य उपचार है। इसलिये यदि वीतरागी बनना है तो इसे अवश्य छोडो।

किसी महात्माके दोष देखनेमें मत लगोः—

दोषैः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि,-
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम् ।

---

१ 'रससंयुक्त भोजन कारे देह पुष्ट होय' यह पं. टोडरमलजीका लिखना ठीक नहीं है। यदि शरीरकी जगह 'अजीर्णादि' लिखते तो ठीक था। क्योंकि, अजीर्णादि, दोष होनेसे दोषोंके साथ समानता बैठती है।

२ इस श्लोककी उत्थानिका तथा अर्थ पं. टोडरमलजीकी समझमें नहीं आया। देखो प्रस्तावना।

द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग,-
द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोप्यगात्तत्पदम् ॥२५०॥

अर्थः—जिनमें ज्ञानादि अनेकों गुण प्रकट होचुके हैं ऐसे महात्माओंमें भी कभी कभी दैववशात् तुच्छ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। उनके अनेक उत्कृष्ट गुणोंके प्रकाशमें वे दोष अति तुच्छ होकर भी जैसेके तैसे ठीक झलकने लगते हैं। इसीलिये वे दोष उत्पन्न होते ही अज्ञानियोंतककी समझमें आजाते हैं। परंतु महात्मा महात्मा ही रहते हैं और वे अज्ञानी अज्ञानी ही रहते हैं। दोषका देखनेवाला देखलेने मात्रसे कुछ ज्ञानी या वैसा महात्मा नहीं बन जाता। दोषोंका देखनेवाला सदा दोषोंमें ही पडा रहता है। उसके आत्मीय गुणोंका उत्कर्ष नहीं होपाता। देखो,—

चन्द्रमें अनेकों गुण हैं। परंतु साथ ही उसमें एक ऐसा लांछन पडा है कि वह लांछन छोटासा होकर भी सारे जगके देखनेमें आता है। उसकी प्रभासे वह लांछन सारा प्रकाशित होता है। इसी कारण जगभरके लोग उसे देखलेते हैं। परंतु क्या देखनेवालोंमेंसे आजतक कोई एक भी उसके महत्त्वको पासका है? नहीं। उत्तम पदार्थके अन्तर्गत रहनेवाले किसी दोषके देखलेने मात्रसे उस दर्शक की योग्यता कभी बढती नहीं है। वह कभी वैसा महात्मा या उससे चढबढ-कर नहीं होसकता है।

भावार्थः—रे तपस्वी, जब कि तू अपने कषायोंके नाश करनेसे मोक्षपद पासकता है, अन्यथा नहीं; तो फिर दूसरोंके दोष देखनेमें क्यों तत्पर होता है? दूसरोंके दोष देखना, यह भी एक कषाय है। ऐसा करनेसे तेरे कषाय व दोष सर्वथा नष्ट नहीं होसकेंगे। इसीलिये तबतक तेरा कल्याण भी नहीं होगा जबतक कि तू दूसरोंके दोष देखनेमें लगा रहेगा। क्यों? यों कि, दोष देखनेवालेके हृदयमें ईर्ष्या सदा जाज्वल्यमान रहती है। एक तो यही कारण है कि उसका कल्याण

नहीं होपाता। दूसरें, दोषैकदृष्टि पुरुषके उत्कृष्ट गुणोंका उत्कर्ष व प्रादुर्भाव नहीं होपाता। हो कहांसे? गुणोंका उत्कर्ष करनेकी तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाने पाता है।

जबतक जग है तबतक थोडे या बहुत दोष तो सभीमें प्राय रहते हैं। इसलिये सर्वांश शुद्धताका जगमें तो कहीं उदाहरण ही नहीं मिल सकेगा। और उन्नतिका क्रम यह है कि एकको देखकर दूसरा अपनी उन्नति करनेमें लगता है। किन्तु जो दोषदर्शी है वह अपनेसे बडा किसीको भी नहीं समझपाता। इसलिये उसका गुणोत्कर्ष होनेके बदले दोषोंमें उत्कर्ष होनेलगना संभव है। इसीलिये भाई, तू किसी महात्माके दोष देखनेमें मत लग। तभी तेरा कल्याण होगा। जिसमें दोष हैं वह अपने दोषोंको जब सुधारेगा उसका कल्याण तभी होगा; नहीं तो नहीं। उसके दोष बने रहने न रहनेसे तुझै हानि या लाभ क्या है? सारांश, तू उससे उपेक्षित हो। परंतु, जबतक वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ तभीतक परदोषग्रहणादि दोष रहते हैं। देखोः—

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते॥ २५१॥

अर्थः—दूसरे साथियोंसे अपनेको श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी अभिलाषा होना स्वाभाविक बात है। जबतक अज्ञान रहता है तबतक यह अभिलाषा अवश्य रहती है। इस अभिलाषाके वश जीव परनिंदा, स्वप्रशंसा, परगुणोच्छादन, स्वगुणाविर्भाव, उपवास व कायक्लेशादि उग्रतप आदि कार्य करता है। परंतु जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वही सच्चा योगी बन जाता है और उसे पहिले अपने पूर्वोक्त सभी ये कार्य अज्ञानकृत भासने लगते हैं। भावार्थ, सभी जगह क्रियाओंसे केवल कार्यसिद्धि नहीं होती किंतु कषायादि दोष दूर होनेपर जो परिणामोंमें विशुद्धता प्राप्त होती है वही मुख्य कार्यसाधक समझनी चाहिये। इसलिये सबसे प्रथम उदासीनता धारण करो। देखोः—

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते,
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता ।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं,
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥ २५२ ॥

अर्थः—आशा, यह एक वेलके तुल्य है। बडे बडे तपस्वियोंमें भी यह आशा-बेल हरी-भरी कायम रहती है। इसके ऊपरकी डालियां सदा ही लहलहायां करती हैं। कबतक? जबतक कि इसकी जडमें पानीका गीलापन रहता है। इसकी जड कौनसी है? मन। मनसे ही इस आशाकी उत्पत्ति होती है। इसकी वृद्धि भी तबतक होती है जबतक कि मनसे ममत्व छूटा नहीं है। इसलिये ममत्व, मानो आशा-वेलको हरा-भरा रखनेवाला पानी है। इस आशाको जिन्हें नष्ट करनेकी इच्छा होती है वे प्रथम ही ममत्व दूर करते हैं। जैसे पानीका गीलापन न रहनेपर बेल सूख जाती है वैसे ही ममत्व नष्ट होते ही आशा-बेल सूख जाती है। इसलिये बुद्धिमान् योगी कठोर कठोर तपों द्वारा ममत्व नष्ट करनेका निरंतर प्रयत्न करते हैं। और तो क्या, चिरपरिचित अपने शरीरसे भी वे योगी अत्यंत विरक्त हो जाते हैं।

क्या शरीरसे ही विरक्त होते हैं, अन्य वस्तुओंसे नहीं?—

क्षीरनीरवदभेदरूपतास्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वऽलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

अर्थः—क्षीरनीरकी तरह अभिन्न दीखनेवाले शरीर व आत्मामें ही जब कि भेदज्ञान उत्पन्न होकर उसने शरीरसे ममता छुडा दी तो जो प्रत्यक्ष जुदे दीखनेवाले स्त्री-पुत्रादि बाह्य विषय हैं उनसे ममता क्यों न छूटेगी? भला, अब प्रत्यक्ष बाह्य विषयोंकी क्या गिनती रही?

शरीरसे ममत्व छुडानेवाली भावनाः—

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात् ।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५४॥

अर्थः—जैसे अग्निसे जल गरम हो जाता है वैसे ही मैं शरीरके संबंधसे संतप्त हो रहा हूं । इसीलिये इस देहका संबंध जब छोडा तभी मोक्षार्थी महायोगियोंको शाश्वतिक शांति प्राप्त हुई । **भावार्थ,** मैं भी जब शरीरको क्षीण करूंगा तभी मुझे शांति प्राप्त होगी । और भी,-

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुध्यति ॥ २५५ ॥

अर्थः—जीवोंके हृदयमें महामोहका संचय होरहा है और वह अनादिकालसे होरहा है । जिन्होंने वास्तविक चित्तनिरोध करके इस महामोहको निकाल दिया उन्हींका उत्तरकालसंबंधी पर्याय सुधरा । जबतक महामोह नष्ट नहीं होता तबतक अंतरीय आत्मा ममत्वसे छूटता नहीं है । इसलिये ममता नष्ट करनेका मूल उपाय मोहकर्मका नाश है । देखो, किसीके भीतर यदि मलप्रकोप हुआ हो तो वह रोगी बन जाता है । उसके रोग दूर करनेका उपाय यह है कि वमन तथा रेचनद्वारा वह मल निकालदिया जाय । इसकेलिये उत्तम औषधोंका योग ग्रहण करना पडता है । उत्तम औषध ली तो वह मल दूर होनेसे शरीर आगेकेलिये शुद्ध हो जाता है । संसार-रोगका नाश करनेकेलिये भी ऐसी ही कोई औषध लेना चाहिये । चित्तका पसारा बढनेसे महामोह कर्म बढता है और उसीका संचय होनेसे संसारके दुःख बढते हैं । इसलिये चित्तका वास्तविक निरोध करना, यही इसकी औषध है । इस औषधसे अनादिसंचित महामोहको दूर किया कि संसाररोग दूर हो जायगा ।

महामोह हटनेके चिन्हः —

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं,
दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम् ।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां,
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६॥

अर्थः—जिन महात्माओंका मोह गलित हो गया है उन्हें ए-

काकी रहना, चक्रवर्तीके सर्वोपरि सुखके समान अपूर्व दीख पडता है। उनका मरण होने लगा तो वे मनवांछित लाभके समान समझते हैं। लाभान्तरायादि घाति कर्मोंके क्षयोपशमसे यदि कभी सुखसंयोग होता दीखा तो उसे वे मोक्षविघातक विघ्न समझकर दुःख मानते हैं। संसारके विषयसुख जैसे जैसे छूटते जाते हैं वैसा ही वैसा उन्हें आनंद होता है। परोपकार करनेमें वे सर्वस्व गमादेनेको भी बडा भारी आनंद मानते हैं। और तो क्या, प्राण भी चले जांय तो परवाह नहीं। अथवा सर्वत्याग करके जब जैनेश्वरी दीक्षा ली जाती है तब जैसे अतीव उत्सव या आनंद होता है वैसे ही प्राणनाश होते उन्हें आनंद होता है। जिनकी यह भावना हो चुकी है उन्हें कैसा ही दुःखका प्रसंग क्यों न प्राप्त हो परंतु वे दुःख न मानकर सुख ही उसे मानते हैं। ठीक ही है, इष्टानिष्टकी जब भावना ही नहीं रही तो ऐसा कौनसा प्रसंग है जो उन्हें सुखमय न भासता हो ? इसीलिये साधु-जन सदा सुखी रहते हैं ऐसा कहना सर्वथा सत्य है। भावार्थ, जब कि मोह नहीं रहा तो चाहें जैसा दुःखका प्रसंग आवै पर उन्हें दुःख नहीं होता। कारण ?—

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते,
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः स्वयं,
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः॥ २५७॥

अर्थः—पूर्वबद्ध कर्म जबतक प्रगट न हो तबतक दुःखका होना संभव नहीं है। और योगी-जन कर्मोंका नाश करनेमें ऐसे दत्तचित्त होते हैं कि जो कर्म अपने आप आकर प्रगट नहीं होते उन्हें भी वे उग्र तपोबलसे खींचकर सामने लाते हैं और नष्ट करते जाते हैं। जब कि यह बात है तो जो कर्म अपने आप ही प्रगट होकर दुःख देनेकेलिये तत्पर होते हैं उन्हें तो वे योगी बहुत ही प्रसन्नताके साथ भस्म कर-

नेको उत्साहित होते हैं। अब कहिये, आये हुए कर्मोंसे उन्हें संकट क्यों होने लगा? इसीलिये विद्वान् योगियोंको कर्मोंके उदयसे खेद होना संभव नहीं है। देखो,

जिस शूरको शत्रु जीतनेकी उत्कंठा है वह आप ही शत्रुपर टूटकर पडना चाहता है। यदि शत्रु ही स्वयं आकर लढना चाहें तो और भी अधिक आनंदकी बात है। उसे उस शत्रुके आक्रमणसे दुःख तथा भय कैसा? प्रत्युत, जो विजय प्रयत्नसाध्य था उसमें अधिक सुगमता हुई समझना चाहिये। उस शत्रुके साथ लढाईमें निःसंदेह विजय ही मिलेगा। वस, इसी प्रकार योगीको उदयावलीमें आकर प्राप्त होनेवाले कर्मोंसे खेद नहीं होता।

अरे भाई, कर्म आकर यदि दुःख दे तो कैसे दे? ऐसे ही न? कि वह आत्मेतर इष्ट वस्तुओंका विध्वंस करदे। परंतु जब कि वे स्वयमेव अन्य वस्तुओंका संयोग हटानेमें सुखी हैं तो इष्टसंयोगविच्छेदसे उन्हें दुःख किसलिये होगा? देखो, वे साधु मुक्तिका प्रयत्न करते हुए शरीरका भी छूट जाना अच्छा समझते हैं:—

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥ २५८ ॥

अर्थः—भ्रमज्ञान जिनका चिंतवन भी नहीं करपाता है। अर्थात्, जिनमेंसे मिथ्याज्ञान सर्वथा हटगया है। ऐसे महात्मा सच्चे शूर योगी मोहका सर्वथा नाश कर चुके हैं। एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा स्वीकार करचुके हैं। अकेले रहकर निर्वाह करसकते हैं, इसलिये सारा परिग्र-जंजाल छोडकर परीषह जीतनेको कटिबद्ध हो रहे हैं। अपना कल्याण सिद्ध करनेमें सदा ही सावधान रहते हैं। आजतक अपने शरीरको अपना सहाई मान रक्खा था और अब भी कर्मोंके नाशार्थ

तपश्चर्याकेलिये कुछ सहाईसा मानते हैं। परंतु तो भी उसके संबंधको लज्जाका कारण समझ रहे हैं। इसीलिये वे महात्मा सदा पल्यङ्क-आसन बांधकर इस बातका विचार करते बैठते हैं कि इस शरीरका किस प्रकार नाश हो। हम शरीरके नाशका उपाय वास्तविक ढूंढकर निकालें ऐसा विचार कर वे योगी कभी पर्वतोंमें, कभी जंगलोंमें और कभी गुफाओंमें—ऐसे शांत एकांत स्थानोंमें जाकर ध्यान रखते हैं। अपने मुख्य कार्यको कभी विसरते नहीं हैं। मोहका नाश हो जानेसे वे सदा ही अपनी सिद्धि करनेमें तयार रहते हैं। ऐसे महात्मा अपनी सिद्धि तो करते ही हैं किंतु दूसरोंके भी कल्याणकर्ता बनते हैं। देखोः—

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय,—
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः ॥२५९॥

अर्थः—सारे शरीरमें लगी हुई धूल जिनकी शोभा बढा रही है। जिन्होंने पत्थरोंके शिलातलको ठहरनेका स्थान बनाया है। जिन्होंने सोनेकेलिये शय्या, ककरीली भूमिको बनाया है। जो व्याघ्रादि भयंकर जंतुओंके रहनेकी गुफाओंको अपना रहनेका घर समझते हैं। शरीरको अपना और आत्माको शरीरमय माननेकी मिथ्या वासना जिनके हृदयसे निकलगई है। अज्ञानान्धकारकी गांठ हृदयसे खुल चुकी है। जो आत्माको केवल संसारसे मुक्त करनेके अभिलाषी हैं; किंतु शेष सर्व अभिलाषा नष्ट कर चुके हैं। जिन्होंने केवल ज्ञानको ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। ऐसे योगीश्वर हमारे मनको वीतराग बनाकर पवित्र करो। देखो, और भी उनकी महिमाः—

दूरारूढतपोनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणै,—
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥२६०॥

अर्थः—जो योगी अपने सातिशय तपके प्रभावसे ज्ञान-ज्योतिका प्रकाश करचुके हैं और उस ज्योतिके जो किरण पसरे हैं उनके द्वारा इस वास्तविक अंतर्गत आत्मतत्त्वको पहिचान चुके हैं। वे ही योगी सच्चे आनंदमें मग्न होनेवाले हैं। उस आत्मानंदमें वे ऐसे तत्पर हो चुके हैं कि उनकी परम शांत मुद्राको चंचल नेत्रवाली बनमेंमें विचरनेवाली हरिणी भी निर्भयताके साथ देखकर मस्त हो उठती हैं। धन्य वे धीर योगीश्वर! इस प्रकार अद्भुत चर्यासे अपने दिनोंको विताते हैं।

भावार्थ—जो आत्मतत्व संसारी जनोंके स्वप्नगोचर भी नहीं हुआ वह जिन्होंने साक्षात् पालिया है ऐसे असाधारण एक महिमाके स्वामी योगीश्वर धन्य हैं। जिनके आत्मतत्त्व पानेका परिचय जंगलकी अति चंचल हरिणी भी देरही हैं। हरिणियोंका इतना चंचल व भययुक्त स्वभाव होता है कि वे मनुष्यको देखते ही दूर भाग जाती हैं। परंतु जो अन्तरात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे परम वीतरागी बनचुके हैं और जिनकी परम वीतराग चेष्टा ऊपर झलकने लगी है उन योगीश्वरोंके दर्शनसे कौन भला, दूर भागेगा? अहो, जिनकी आत्मनिष्ठाके बलसे सिंहादिक क्रूर जीव भी अपनी दुष्टता भूल जाते हैं उनके दर्शनसे भय कैसा? उन्हें जो देखै उसे आनंद ही आनंद प्राप्त होता है। यह उनके आत्मप्रत्यक्ष होनेकी महिमा है। देखो, और भी उन्हींकी महिमाः—

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तय,-
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोज्झिताः पांशवः ॥२६१॥

अर्थः—विषयाशा तथा आत्मा, इन दोनोंका ही ज्ञान होना कठिन है। विषयोंकी आशा जहां देखो वहां ही जाज्वल्यमान दीख पड़ती है। शुद्ध आत्माका अनुभव संसार-दशामें कभी कहीं भी दीख नहीं पाता। इसीलिये संसारी जन स्वानुभूत कामविकारोंको ही आत्मा या

आत्मलक्षण समझ बैठते हैं। परंतु इस विषयाशा तथा आत्माके परस्पर दुर्लक्ष्य भेदको जबतक पूरा समझ नहीं पाया तबतक जिन्होंने थककर अधवीचमें ही अपनी बुद्धिको हटाया नहीं; किंतु जो सतत श्रम करते ही रहे। और अंतमें उस शुद्ध आत्माको जिन्होंने वास्तविक समझ ही लिया। अत एव जिनका मन बाह्य विषयोंमेंसे हटकर आत्मस्वरूपके परमानंद भोगनेमें लीन होगया है। जिन्होंने परम शांतताको ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। जगमें उन योगीश्वरोंके चरणोंसे झडकर गिरी हुई परम–पवित्र धूल हमको पवित्र करै। भावार्थ, ऐसे योगीश्वरोंकी चरणरज हमारा निस्तार करनेवाली हो। और उन योगियोंके चरणोंका हमें सदा ही सहवास प्राप्त हो।

संसारी जनोंसे उनकी अपूर्वता:—

यत् प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव सोप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२॥

अर्थः—जीव पूर्वभवोंमें जिन शुभ या अशुभ कर्मोंका संचय करते हैं उसीका नाम दैव है। जब उस दैवका तीव्र उद्रेक प्रगट होता है तब जीवोंको सुख या दुःख आकर मिलते हैं। उस समय सामान्य जीवोंकी यह दशा होती है कि वे उसमें तन्मय बन जाते हैं; और सब कुछ अपना कर्तव्य भूलकर उसी दुःख सुखकी भावना करते बैठते हैं। शुभ दैवके समयमें जीव विषयानंद पाकर अपना कर्तव्य भूलते हैं और अशुभके समयमें दुःखसे व्याकुल होकर कर्तव्य–विमुख बनते हैं। ऐसे संसारमें जो शुभाशुभ दैवके उद्रेकसे कुछ सावधान रहकर अपने शुभ कर्मोंको छोडता नहीं है वह बुद्धिमान माना जाता है। विद्वान् उसकी प्रशंसा करते हैं। यद्यपि शुभ कर्म भी संसारबंधनका ही एक भेद है। परंतु उस कर्मके करनेवाले भी जब कि आदरयोग्य समझे जाते हैं

तो जो शुभाशुभ-दोनोंके नाशार्थ सर्व आरंभ व परिग्रहोंसे ममता-प्रेम-बंधन तोड चुका है उसकी महिमाका फिर कहना ही क्या है? उसे बडेसे बडे सत्पुरुष वंदते हैं।

जब कि कर्म बलवान् है तो उसकी अवहेलना कैसे होसकै?—

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं नहि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥ २६३ ॥

अर्थः—पूर्वमें किये हुए कर्मोंके उदयवश सुख तथा दुःख तो होता ही है। इसमें क्यों तो मैं प्रीति करूं और क्यों संताप करूं? क्योंकि, ये सुख-दुःख आत्मीय स्वभाव न होनेसे मेरी खुदकी कुछ हरकत नहीं करसकते हैं। यदि ऐसा विचार उत्पन्न होजाय तो सुख-दुःख होते हुए भी जीव उनसे उदास रह सकता है। इस उदासीनताका लाभ यह होगा कि उसके प्राचीन कर्म तो उदय पाकर खिर ही जांयगे; किंतु विषयमोह न रहनेसे वह नवीन बंध कुछ भी नहीं बाँधेगा। इसी प्रकार कुछ समयतक वीतराग बना रहनेसे कर्मोंका नाश करके अति निर्मल रत्नके समान शुद्ध होजायगा और ज्ञान-दर्शनादि गुणोंको प्रकाशित करने लगेगा।

यही बात रूपान्तरसे आगे भी कहते हैं। देखोः—

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्,
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥ २६४ ॥

अर्थः—योगीश्वरोंमें पूर्ण वीतराग भावोंके द्वारा घातिकर्मोंका नाश हो जानेपर सर्व तत्त्वोंको समझनेकेलिये समर्थ ऐसा पूर्ण निर्मल ज्ञान प्रगट होता है। इस समय यद्यपि ध्यानके बलसे ज्ञान प्रगट

होता है और अंतरंग कर्ममलका प्राय अभाव भी हो जाता है; परंतु शरीर तो भी बना ही रहता है । इस शरीर-कुटीमें स्थिर रहते हुए योगीश्वर अपने ज्ञानको जगमें प्रकाशित करते हैं । सत्य मार्गका उपदेश कर भव्य-जीवोंको संसारसे पार करते हैं। फिर उसी केवलज्ञानके बलसे शरीरका नाश कर अमूर्तिक परमात्मपदको प्राप्त करते हैं। उस समय पूरे सिद्धात्मा होकर केवल ज्ञान-ज्योतिमय प्रकाशित होने लगते हैं। जैसे प्रारंभमें जब अग्निका लकडीमें प्रवेश होता है तब लकडी भी दीख पडती है और अग्निकी ज्वाला भी उठती दीखती है । कालांतरमें वही अग्निज्वाला लकडीको सर्वथा भस्म करदेती है और केवल शुद्ध दशामें वह प्राप्त हो जाती है । यतियोंके चारित्रकी भी यही महिमा है। **भावार्थ**, यतियोंके चारित्रसे वह अपूर्व आत्मस्वरूप प्रगट होजाता है जो कि संसारी जीवोंको चाहें जैसे प्रयत्न करनेपर भी प्राप्त नहीं होपाता । यही बडा भारी इसमें आश्चर्य है ।

अन्य दर्शनकार मुक्तदशा कैसी मानते हैं?—

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते ।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥ २६९ ॥

अर्थः—वैशेषिक-नैयायिकोंने गुणोंको द्रव्योंसे एक जुदा कल्पित किया है। और मोक्षदशामें उन गुणोंका नाश होजाना माना है। इसलिये मुक्त होते ही जीव बुद्धि आदि गुणोंसे शून्य रह जाता है। परंतु आश्चर्य, कि जीवका विशेष स्वभाव ज्ञान है। जब कि वही न रहा तो जीव किस स्वरूपमें उस समय रहेगा? इस आक्षेपके भयसे बौद्धोंने जीवको ज्ञानादि गुणोंसे कोई जुदा पदार्थ नहीं माना, किंतु तन्मय उसका स्वरूप माना है। परंतु वे भी मुक्तिके समय ज्ञानका उच्छेद हो जाना मानते हैं। इसलिये ज्ञानका उच्छेद मानो जीवका ही उच्छेद है; ऐसा उन्हें मानना पडता है। इसीलिये निर्वाणको शून्य-स्वरूप उन्होंने ठहराया है।

यह नहीं मालूम होता कि ऐसा निर्वाण मानकर जीव उसमें क्यों प्रवृत्त होंगे ? अरे भाई, जहां मूलका ही उच्छेद हो जाता है वहांसे तो यह संसार ही भला है, जहां कि समल ही क्यों न हो परंतु मूल तो कायम रहता है । अत एवः—

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः स्थितः ॥ २६६ ॥

अर्थः—जीवका स्वभाव द्रव्यदृष्टचा अनादिमुक्त होनेसे जन्म-मरणसे शून्य है। अवथा मुक्त हो जानेपर संसारके जन्म-मरण होना बंद होजाता है; इसलिये भी शुद्ध जीव अजन्मा तथा अमर मानना चाहिये। रूपरसादि गुणवाले पिण्डोंको मुर्तिक कहते हैं। जीवमें ऐसे गुण नहीं हैं। इसलिये वह बाह्य इंद्रियोंके गोचर नहीं होता और अत एव अमूर्तिक माना जाता है । कर्मबंधनके रहनेसे संसारदशामें वह औपचारिक मूर्तिक भी कहा जासकता है। परंतु शुद्ध जीव औपचारिक मूर्ति भी धारण नहीं करता । संसारके स्वभावोंकी अपेक्षासे जीव कर्मोंका कर्ता है। किंतु शुद्ध मूल व वास्तविक निजी स्वभावोंकी तरफ देखनेसे उन्हीं अपने स्वभावोंका कर्ता कहा जासकता है, न कि कर्मोंका । ठीक ही है, कर्मोंके बंधका कारण विकारी दशा है, जो कि कर्म व जीवके संबंधविशेषसे उत्पन्न होती है । उस दशाको न तो ठीक जीवसंबंधी ही कह सकते हैं और न कर्मसंबंधी ही कह सकते हैं । दोनोंके ही मूल स्वभावोंसे जुदी वह तीसरी एक दशा है। इसीलिये कर्मबंधके कर्तृत्वका अपराधी जीवको बताना ठीक नहीं है । जिसका जो कर्ता होता है उसीका, और वही, भोक्ता भी होता है । इसलिये जीव व्यवहारदृष्टिसे कर्मफलोंका भोक्ता है और स्वाभाविक गुणोंकी तरफ देखनेसे वह उन्हीं स्वाभाविक चैतन्यादि गुणोंका भोक्ता है । जीवका स्वभाव सुखी व ज्ञानमय भी है । जीवका परिमाण प्रदेशोंकी गिनतीसे तो असंख्यात प्रदेशका है; किंतु लंबाई चौडाई व उंचाईमें यथासमय प्राप्त

होनेवाले छोटे बडे शरीरके बराबर रहता है। मुक्त होते समय कोई कोई जीव क्षणमात्रकेलिये लोकव्याप्त भी होता है परंतु फिर वह तत्काल सकुडकर शरीरमात्र ही हो जाता है। मुक्त होते समय जीवके साथके कर्मादि सारे मल दूर हो जाते हैं और वह ऊपरकी तरफ लोकके अंतमें जाकर ठहरता है। वह वहां ऐसा ठहरता है कि फिर कभी वहांसे विचलित नहीं होता। उस समय इसी जीवको लोग प्रभु, स्वामी, ईश्वर, परमात्मा कहने लगते हैं। ठीक ही है, इससे अब अधिक वैभवशाली व नित्यसुखी दूसरा कौन है?

यहां जो अवस्था तथा अपेक्षाके भेदसे जीवके विशेषण बताये हैं वे सांख्यादि मतोंके निषेधार्थ हैं। सांख्यादि मतोंके अनुसार जीवका स्वरूप संभव नहीं होता और ऐसा स्वरूप युक्तियोंसे ठीक बैठता है।

---

१ अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कपिलशासने॥

(यह सांख्यमत).

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम्।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

(यह बौद्धमत).

सदाशिवः सदाकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितम्।
मस्करी किल मुक्तात्मा मन्यते पुनरागतिम्॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो योगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम्॥

(यह अनेक मतसंग्रह).

अष्टविधकर्मविकलाः शीतीभूता निरञ्जना नित्याः।
अष्टगुणाः कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः॥

(स्वमत).

विषयसंपत्ति न रहकर भी मुक्तिमें सुख कैसा?—

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत् सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥ २६७ ॥

अर्थः—तपस्वियोंको अनेक दुःख रहकर भी स्वाधीनताका संकल्पमात्र होजानेसे सुख ही सुख अनुभवगोचर होने लगता है। तो फिर जिनको शरीरके बन्धनसे तथा ज्ञानादि गुणोंके विघातसे एवं इन्द्रिय विषयोंके अभावसे पद-पद पर होनेवाले संसारदशाके दुःख, जब कि सर्वथा उपाधियां हट जानेसे छूट गये हों तब उन्हें क्यों न अपूर्व सुख या आनंद प्राप्त होगा? यदि स्वाधीनताकी सीमा तथा इच्छा-द्वेष का अत्यंत अभाव जिन्हें प्राप्त हो चुका है उन्हें भी सुखी न माना जाय तो सच्चा सुखी कौन दूसरा होगा? यह शाश्वतिक तथा अकथनीय आनंद प्राप्त होना विषयोंसे विमुख होकर तपश्चरण व आत्मध्यान करनेका फल है।

ग्रन्थकारका अन्तिम उपसंहार व आशीर्वादः—

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं,
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तुं[1] श्रियं ते[2] ॥ २६८ ॥

अर्थः—श्रीगुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस ग्रंथमें संक्षेपसे उत्तमसे उत्तम व निर्दोष आत्माको उपदेश या उसके शुद्ध होनेका उपाय दिखाया है। इसका जो मनन करेंगे उन्हें असली आत्मसिद्धि प्राप्त होगी। देखोः—

इस प्रकार थोडेसे वाक्य बनाकर उन वाक्योंमें यह पवित्र विषय मैंने गूंथा है। इस ग्रंथमें संसारसे मुक्त होनेवाले योगीश्वरोंका कर्तव्य व ध्येय विषय इकट्ठा किया गया है। इसीलिये मोक्षके उपायोंमें लगे

१—'माश्रयन्ते' इति वा पाठः। २ ये चिन्तयन्ति ते।

हुए योगीश्वरोंके चित्तको यह ग्रंथ आनंददायक होगा। इस ग्रंथमें जो वर्णन किया है वह सर्वथा उचित है। अर्थात्, इसी प्रकार जो योगीश्वर अपनी चर्या रखते हैं वे अवश्य आत्मसिद्धिको पाते हैं। पूर्वाचार्योंने भी इसी प्रकार आत्मसिद्धिका उपाय आजतक वर्णन किया है। इस ग्रंथका विषय क्या है, इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ग्रंथकारने प्रारंभमें दिया है, कि 'आत्माके शुद्ध होनेकी शिक्षा इस ग्रंथमें मैं कहूंगा'[1]। उस शिक्षाको चार विभागोंमें विभक्त किया है। वे चार विभागः—(१) सम्यग्दर्शनाराधना, (२) ज्ञानाराधना, (३) चारित्राराधना, (४) तप आराधना। इन्ही चार आराधनाओंका वर्णन क्रमसे इस ग्रंथमें प्रतिज्ञानुसार किया है। जिस प्रकार इस ग्रंथमें वर्णन किया है यदि उसी प्रकार कोई इसका पूर्ण चिंतवन कुछ समयतक निरंतर अपने मनमें करता जाय तो संभव है कि वह अवश्य संसारकी विपदाओंसे छूटकर मुक्तिके अनुपम ऐश्वर्यको प्राप्त होगा। जो योगीश्वर मुक्ति पाते हैं वे ऐसा ही आराधन करनेसे पाते हैं, अन्यथा नहीं; यह निश्चय समझना चाहिये। ग्रंथकार इस ग्रंथके करनेका यही फल समझते हुए मोक्षार्थियोंको आशीर्वाद देते हैं कि 'इस ग्रंथके अनुसार अंतिम तप आराधनामें जो पहुचकर प्रवृत्त होनेवाले हैं वे अवश्य व शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मीका आश्रय करो।

ग्रंथकार गुरुका व अपना नाम दिखाते हैंः—

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥ २६९ ॥

अर्थः—अपने गुरु श्री. **जिनसेनाचार्य**के चरणोंका मनमें सदा चिंतवन करनेवाले श्री **गुणभद्राचार्य**ने यह आत्मानुशासन ग्रंथ बनाया है। **भावार्थः**—इस ग्रंथके कर्ता ज्ञानी विरागी तथा अनेक गुणोंसे पूज्य हैं इसलिये उनकी कृति भी आदरयोग्य है।

---

१ 'आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥

अन्तिम मंगलः—

ऋषभो नाभिसूनुर्यो भूयात्स भविकाय वः ।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥ २७० ॥

अर्थः—अंतिम मनु या कुलंकर श्री. नाभिराजके पुत्र जो श्री. वृषभनाथ प्रथम तीर्थंकर, वे तुह्मारे कल्याणके कर्ता हो । जिनके कि ज्ञान-सरोवरमें सारा जग कमलके तुल्य भासता है ।

भावार्थः—जब कि जगके जीवोंमें मोक्षका तथा न्याय-निर्वाहका उद्योग सर्वथा ही बंद पडरहा था और उसकी आवश्यकता आपडी थी तब इसके थोडे-बहुत उन्नेता जनोंका क्रमसे प्रारंभ होकर अंतमें पूर्ण-योग्य नेता व उन्नेता श्री. वृषभस्वामीका अवतार हुआ । उन्होंने सृष्टिके जीवोंको दुःखसे छूटकर सुखमें प्राप्त होनेका अनेक प्रकार उपदेश दिया व शासन भी किया । उनके वाद अनेक पुरुष और भी वैसे ही उत्पन्न हुए और उन्होंने भी यही काम किया । जगके जीवोंको सुखमें लगाकर वे आप भी परमधाम जाते रहे । इस प्रकार इस सृष्टिपर आजतक यद्यपि अनेकों पुरुष ऐसे हुए कि जिन्होंने जीवोंके कल्याणका वास्तविक मार्ग प्रगट किया व जारी रक्खा, परंतु उन सर्वोंमें इस प्रवर्तते हुए युगमें पहिले महात्मा श्री वृषभ देव या ऋषभ देव ही हुए हैं । इसीलिये ग्रंथकार उन भगवानका यहां स्मरण करते हैं और वाकी भव्य जीवोंको कहते हैं कि तुम भी उन्हींके उपदेशसे तरोगे ।

संसारमें आजतक अनेकों मनुष्य ऐसे हुए हैं कि जिन्होंने एक दूसरेकी देखादेखी जीवोंके व अपने सुखका विचार किया और जैसा विचारा वैसा उपदेश किया । परंतु जैसा कुछ निर्दोष कल्याणमार्ग भगवान् ऋषभ देवकी परंपरामें आजतक प्राप्त होता रहा है वैसा अन्यत्र नहीं । हो कहांसे ? सत्य मार्गका शोध ज्ञान विना नहीं लगसकता है । ज्ञान यदि वास्तविक तथा पूर्ण कहीं था तो यहींपर । इसीलिये हितार्थी जीवोंको दयालु ग्रंथकार कहते हैं कि तुह्मारा सच्चा कल्याण उन्ही

भगवान् वृषभनाथ स्वामीके आश्रयसे होगा। इसलिये तुम संसारके जीवों, उन्हीका उपदेश सुनो और तदनुसार चलो। जिससे कि तुम्हें अपना अभीष्ट प्राप्त हो। अभीष्ट क्या? कल्याण, मंगल, शुभ, आनंद-परमानंद, सुख या आत्म-सिद्धि।

॥ इति ॥

वं-दों मैं तुम पांय, नाभिके अनुपम नंदा।
शी-ख देय जिन जगतजीवके काटे फंदा॥
ध-रि जिनदीक्षा घाति घाति-करमनिके दंदा।
र-विसम केवलबोध पाय लिय शिवआनंदा॥

---

१ मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मङ्गलम्॥

प्रथम श्लोकमें विशेष वक्तव्यः—

अर्थः—गुणभद्रस्वामी कहते हैं, कि अनंत ज्ञानादि=आत्मस्वभावरूप तथा छत्रचामरादि=बाहिरी अतिशयस्वरूप अपूर्व लक्ष्मीके धारी, पापोंका नाश करनेवाले श्रीवीरनाथ स्वामी चौवीसवें तीर्थंकरको अथवा कर्मशत्रुओंके विनाशक योद्धाको या विशिष्ट लक्ष्मीके उत्पन्न करनेवाले सर्व अरहंत आदिक परमेष्ठियोंको अपने हृदयमें धारण करके आत्मानुशासन नामक ग्रंथको लिखता हूँ; जिससे कि प्रतिबोध पाकर भव्य जीवोंको संसारदुःखोंसे छुटकारा हो।

विशेषः—वीर शब्दके जो दो विशेषण दिये हैं वे दोनो वीरशब्दसे भी सूचित होते हैं। पहला विशेषण लक्ष्मीनिवासनिलय है। यह विशेषण वीर शब्दके वि×ई×र, ऐसे टुकडे करनेसे निकल आता है, क्योंकि, 'वि' नाम विशिष्ट या अपूर्वका है। और 'ई' लक्ष्मीको कहते हैं। 'रा' धातुका देना अर्थ है, इसलिये 'र' का अर्थ देनेवाला है। और देता वही है कि जिसके पास हो। इस प्रकार मिलानेपर वीर शब्दका अर्थ 'अपूर्व लक्ष्मीके धारण करनेवाले' ऐसा होता है। दूसरा विशेषण 'विलीनविलय' है। अर्थात् जिसके विलय नाम पाप, विलीन होचुके हैं। इस विशेषणकी सिद्धि वीर शब्दसे तब होसकती है जब कि वीर शब्दका अर्थ शत्रुओंका जीतनेवाला शूर ऐसा माना जाय; क्योंकि वीरस्वामीने भी कर्मशत्रुओंका सर्वथा नाश करके उनसे विजय प्राप्त की है। ऐसे दो अर्थ माननेपर 'वीर' शब्द विशेषणरूप हो जाता है। और विशेष्य अर्थके समय यह शब्द चौवीसवें तीर्थंकरका वाचक है।

जब यह शब्द विशेषण मानलिया जाता है तब इसका अर्थ अरहंत आदिक पांचों परमेष्ठी होसकता है। और इसीलिये पांचों परमेष्ठियोंको इस श्लोकसे नमस्कार होना सूचित होता है। जब कि इसको विशेष्य मानलिया जाय तो इससे वीरनाथ भगवान्‌को नमस्कार हो

जाता है। अथवा, वीर शब्दका अर्थ गणितसंकेतके अनुसार चौवीस संख्या होता है; क्योंकि वकारसे चारकी संख्या तथा रेफसे दोकी संख्या गणितमें लीगई है। अंकोंका लिखना उलटी बाजूसे होता है; इसलिये मिलनेपर चार दो का अर्थ चौवीस हो जाता है। इस प्रकार इसी वीर शब्दसे चौवीसो तीर्थकरोंको भी नमस्कार होजाता है। विशिष्ट लक्ष्मीकी प्राप्ति शास्त्रद्वारा भी होती है। इसलिये विशिष्ट लक्ष्मीका दाता ऐसा विशेषण शास्त्रका मानलेनेपर शास्त्रको भी नमस्कार इस शब्दसे हो जाता है। इस प्रकार देव गुरु शास्त्र तीनोको ही नमस्कार करना इस श्लोकसे सिद्ध हो जाता है।

लक्ष्मीनिवासनिलय तथा विलीनविलय ये दोनो विशेषण देव, गुरु, शास्त्रमेंसे प्रत्येकके होसकते हैं और इसीलिये ये तीनो संसारभरके अन्य सभी देवादिकोंसे अधिक उत्कृष्ट हैं ऐसा सूचित होता है।

संसारसे दुःखित हुए भव्योंको मुक्तिसुखकी प्राप्ति कराना ही इस ग्रंथके बनानेका प्रयोजन कहा है। इससे सिद्ध होता है कि इसे बनाकर ग्रंथकर्ताको अपने लोभ मान आदिकी पुष्टि करना या अपनी विद्याका घमंड दिखाना इष्ट नहीं था। जो लोभादिके वशीभूत होकर ऐसा कार्य करते हैं, उनसे असत्य अहितकारी उपदेश भी कदाचित् हो जाता है। पर इस ग्रंथका हेतु ऐसा नहीं है, किंतु जीवोंके सच्चे सुखका मार्ग इसमें बताया गया है। इसीलिये यह जीवोंको परम हितकर्ता तथा ग्राह्य है ऐसा सिद्ध होता है।

जिससे सच्चे आत्मस्वरूपका उपदेश मिलसकता हो वह आत्मानुशासन होसकता है। इस ग्रंथका नाम भी आत्मानुशासन है इसलिये इस नामपरसे संबंध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान ये तीनो विषय स्पष्ट मालूम होसकते हैं। और इष्ट प्रयोजनको ग्रंथकारने 'वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्' इस वाक्यसे अलग भी दिखादिया है।

इस श्लोकमें जो मंगल किया है, वह इष्ट देवको नमस्कार करनेसे तो स्पष्ट सूचित होता ही है किंतु 'लक्ष्मी' इस कल्याणवाची शब्दके प्रथम उच्चारणसे भी वह मंगल सिद्ध होता है। संसारी जीव लक्ष्मीसे सर्व सुखकी प्राप्ति होना सुलभ समझते हैं। इसीलिये भगवान्‌को सबसे प्रथम लक्ष्मीनिवासनिलय बताया है जिससे कि श्रोता जन भगवान्‌को सुखोत्पत्ति करनेकेलिये समर्थ समझें।

भगवद्गुणभद्र स्वामीने प्रथम मंगलमें महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकरको हृदयमें धारण किया है और अंतिम मंगलमें प्रथम तीर्थंकरका स्मरण किया है। इससे यह व्यङ्ग्य अर्थ निकल सकता है कि जैसे ही कोई इस ग्रंथका अध्ययन समाप्त करेगा वैसे ही उसकेलिये उत्सर्पिणीके प्रथम तीर्थंकरकी उत्पत्तिका समय आकर प्राप्त होगा। अर्थात् इस ग्रंथका अध्ययन करनेवाला पुरुष शीघ्र ही सुख-शांतिके सर्वोत्कृष्ट समयमें जाकर प्रवेश करेगा। अथवा, इस ग्रंथका अध्ययन करनेसें पहिले जिसका आत्मा अत्यंत पतित होगा वह भी अध्ययन समाप्त करते ही परमात्मा बनजायगा। क्योंकि सम्यग् ज्ञान ही इष्टप्राप्तिका मुख्य उपाय मानागया है। परीक्षामुखके प्रारंभमें 'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिः' ऐसा कहा है। अर्थात्, प्रमाणसे ही इष्टसिद्धि होती है। यद्यपि प्रयत्न-विना ज्ञानमात्रसे कार्यसिद्धि नहीं होती तो भी सम्यग्ज्ञान होनेपर प्रयत्न हुए विना रहता नहीं है। इसलिये ग्रंथका अध्ययन या ज्ञान भी इष्टका साधक कहा जा सकता है। अथवा, जब कि इस ग्रंथका उपदेश सुननेको मिलेगा तो श्रोता मनुष्य अवश्य ही हिताहितप्राप्तिपरिहारमें लगेगा। इसलिये मनुष्यको परमहित प्राप्त होनेमें यह ग्रंथ निदानकारण अवश्य मानना चाहिये।

इस मतमें प्राय विद्वानोंका विवाद न होगा कि आदि तीर्थंकरके समयमें जैसा कुछ कल्याणका साधन करना सुगम पडता था वैसा आज या श्री. महावीर स्वामीके समय नहीं रहा। इसीलिये जो धर्मो-

भ्रातिके प्रेमी हैं वे महावीर स्वामीके समयकी अपेक्षा आदि तीर्थकरके समयके प्राप्त होनेकी अभिलाषा अधिक करेंगे। इसीलिये ग्रंथकारने भी इस ग्रंथका फल उपर्युक्त माना हो तो उचित ही है।

इन श्लोकोंमें लल, नन, वव, क्षक्ष, आदि अक्षरोंका अनेक वार आना अनुप्रास गुणको सूचित करता है। अनुप्रासके रहनेसे कर्णमधुरता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इस सारे ही ग्रंथमें कर्णमधुरता है। कर्णकटुता कहीं भी न मिलेगी। और अर्थ तो इसका अतिरोचक है ही।

सर्व प्रकारके जैनग्रंथ मिलनेका पता:—

मैनेजर, जैनग्रंथरत्नाकर

कार्यालय-हीराबाग.

पोष्ट गिरगांव,

बंबई.